आलोचना के विरुद्ध ?

शीराज़ा
हिन्दी

मूल्य : दो रुपये

ज० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लेंग्वेजिज, जम्मू

द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

वर्ष : २० अप्रैल-मई १९८४ अंक : १

७०

अपनी बात

आलोचक की स्थिति कभी भी सम्मानजनक नहीं रही। यद्यपि आज आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शताब्दी वर्ष में उन्हें भावभीनी श्रद्धांजली अर्पित करते हुए उनकी सेवाओं को खुले मन से याद किया जा रहा है, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, नंददुलारे वाजपेयी तथा रामविलास शर्मा की स्थापनाओं को प्रशंसा की दृष्टि से देखा जा रहा है किन्तु अपने समकालीन आलोचकों के प्रति लेखक के मन में कितना ज़हर भरा है इसे मृदुला गर्ग की टिप्पणी पढ़ कर ही जाना जा सकता है। इसके लिए दोषी कौन है—यह बहस का मुद्दा है। आलोचक कुछ निश्चित सिद्धांतों और मानदण्डों के आधार पर रचना का परीक्षण करता है, निष्कर्ष देता है। वे सिद्धान्त और मापदण्ड उसके अपने हैं, अपने रहेंगे उन्हें वह लेखक विशेष की सुविधा के लिए बदल देगा—उससे ऐसी अपेक्षा करना उसके साथ अन्याय करना होगा। साहित्य अन्ततोगत्वा व्यक्तिगत रुचियों का शिकार होने को अभिशप्त है। एक ही समय प्रेमचन्द और प्रसाद हो सकते हैं तो एक ही समय में निराला और अज्ञेय भी रचनाकर्म में प्रवृत्त देखे जा सकते हैं। दोनों को पाठकों का स्नेह मिलता है, आलोचकों की खट्टी-मीठी आलोचना मिलती है। वर्तमान समय में जब स्थिति यह हो कि जितना लिखा जा रहा है उसका लगभग आधा ही छपकर बाजार में आ रहा है और आलोचक की आर्थिक सीमाओं का शिकार होकर एक नगण्य भाग ही उस तक पहुंच पा रहा है तब सम्पूर्ण साहित्यिक परिदृश्य पर कोई भी टिप्पणी अंतिम नहीं हो सकती और न ही उसे अंतिम मानकर क्षुब्ध या प्रमुदित होना चाहिए। 'कृति की राह से गुज़र कर' की गई आलोचना लेखक को आकर्षक भले लगे किन्तु वह स्थाई और समग्र आलोचनात्मक समझ को समेटे होगी इसकी ज़मानत नहीं दी जा सकती। इस रास्ते चलने पर हमें लगेगा कि आलोचना हर अगले कदम पर एक नई गली खोल रही है और सीधी सड़क पर चलने वाला जुलूस गलियों में गुम होता जा रहा है। इसे निश्चित ही सुखद स्थिति नहीं कहा जा सकता।

इधर, प्राय: आलोचक अपने औज़ारों की धार पत्र-पत्रिकाओं के समीक्षा-कालमों में या पी-एच० डी० आदि के शोध-प्रबन्धों में तेज़ करते दिखाई देते हैं। पत्र-पत्रिकाओं के संदर्भ

में देखें तो आलोचक केवल उस कृति की समीक्षा करने को प्रतिबद्ध है जो उसे पत्र-पत्रिका विशेष से समीक्षार्थ प्राप्त हुई है; पी-एच० डी० आदि की उपाधि प्राप्त करने के लिए तैयार किए जाने वाले शोध-प्रबन्धों के बारे में जितना कहा जा चुका है उससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। ऐसे में प्रश्न उठता है कि आज का लेखक जिस आलोचना के विरुद्ध आवाज़ उठा रहा है—क्या वह सचमुच आलोचना है? क्या वह आलोचनात्मक प्रतिक्रिया रचना के पाठ के बाद स्वत: उत्पन्न होती है या इसे सायास कागज़ पर उतारा जाता है? क्या बाज़ार में आलोचना की स्वतंत्र पुस्तकें आ रही हैं--यदि हां, तो लेखक उन्हें किस रूप में स्वीकार करते हैं? यदि नहीं, तो ऐसी पुस्तकों का बाज़ार में अभाव क्यों है? पिछले दिनों कृति की राह से गुज़र कर की जा रही आलोचना के किन सिद्धान्तों और मापदण्डों की रचना की है और कि वे कितने स्थायी और प्रभावकारी हैं? क्या अधिकांश लेखकों की कृतियों को इन विषयों पर कसा जा सकता है और क्या सभी लेखक इस पद्धति से संतुष्ट हो सकेंगे? इन प्रश्नों का सिलसिला अंतहीन है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सार्थक आलोचना की सम्भावनाएं भी असीम हैं। ये सभी प्रश्न उत्तर मांगते हैं—और कटु आलोचना को बाड़े या खेमे से आई आलोचना कह कर नकारने या स्वीकारने की प्रवृत्ति पर अंकुश भी। आखिर हम अपनी रचना को लेकर इतने 'टची' क्यों हो जाते हैं? यदि हम आलोचक से खुली दृष्टि की मांग करते हैं तो आलोचक हमसे खुली दृष्टि की मांग क्यों नहीं कर सकता?

दिल्ली में पिछले दिनों 'आलोचना के विरुद्ध' एक गोष्ठी आयोजित हुई थी। मैंने भी उसमें भाग लिया। गोष्ठी की समाप्ति पर मुझे लगा था कि समकालीन सन्दर्भों में लेखक आलोचक के प्रति असामान्य हद तक कटु और असहिष्णु हो चला है। यद्यपि कुछ एक मित्रों ने आलोचना के स्थान पर रचना की कमज़ोरी की ओर ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया था किन्तु कुल मिलाकर आलोचना और आलोचक को लेकर जो बहस की गई थी उसने प्रभावशाली टिप्पणियों के बावजूद मुझे इस स्तर पर निराश किया था कि हम सब सांप के गुज़र जाने पर लकीर पीटते हुए देखे जा सकते हैं / दिखाई दे रहे थे।

इसी मानसिकता को लेकर मैंने **शीराज़ा** के अंक के प्रकाशन की योजना बनाई थी। कुछ मित्रों ने इसे दिल्ली का पिच्छलग्गू बनने की संज्ञा दी थी तो कुछ ने इसे 'निरर्थक व्यायाम' बताया था। जो भी हो, मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मैं अंक निकाल रहा हूं और बहस के लिए एक खुला मंच दे रहा हूं।

अंक की सामग्री आपके सामने है, उस पर प्रतिक्रिया भी आपकी ही होगी। किन्तु मुझे लगा है कि हम बकौल गोविन्द मिश्र 'आलोचना के नहीं, समकालीन आलोचना के विरुद्ध' हो गए हैं। उनसे अनुमति लेकर मैं कहना चाहूंगा कि हम वस्तुत: आलोचना के नहीं, **आलोचक** के विरुद्ध होते जा रहे हैं। उसके अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाना हमें सुखकर लगने लगा है। यह स्थिति किसी भी दृष्टि से संतोषजनक नहीं मानी जा सकती। इससे न लेखक या उसकी रचना का भला होगा और न आलोचक और उसकी आलोचना का। देश के सामाजिक और राजनीतिक परिदृश्य के समान ही साहित्य में भी परस्पर विश्वास की कमी दिखाई देती है जो निश्चय ही घातक मानसिकता की ओर एक संकेत है। इस स्थिति का सामना करने और इस जड़ता से मुक्ति पाने के सिवा कोई विकल्प शेष नहीं है।

'आलोचना की वकालत में' शुरूआत भी इसी अंक से हो रही है—यह प्रसन्नता की बात है। आपकी प्रतिक्रिया वर्तमान जटिल परिदृश्य को साफ करने में सहायक होगी—ऐसा मेरा विश्वास है।

—रमेश मेहता

आलोचना के विरुद्ध

□ डॉ० चन्द्रकान्त बांदिवडेकर

आलोचना आलोचक का बहुत फायदा कराने वाली चीज नहीं है : रोमैंटिक कवि कीट्स ने आलोचना के लघु रूप रिव्ह्यू लिखने वाले के बारे में तैश में आकर कहा था कि "इस कुत्ते को गोली मारो। यह रिव्ह्यूअर है।" एक अत्यधिक संवेदनशील रोमैंटिक कवि की यह प्रतिक्रिया, खास कर उस कवि की, जो कल्पना की दुनिया में विचरता हो और सामान्यतः एक रोमैंटिक कवि के रूप में आत्मरत भी हो, समझी जा सकती है। परन्तु आलोचना का दुर्भाग्य इतने तक ही सीमित नहीं रहा है। जब कभी गंभीर लेखक भी आलोचना कार्य के प्रति उपेक्षा या अवहेलना का भाव दर्शाता है तो उसपर गंभीरतापूर्वक विचार करना न केवल आलोचक एवं आलोचना कार्य के लिए अत्यावश्यक है, वह कुल साहित्य के सांस्कृतिक संदर्भ में भी आवश्यक है। साहित्य यद्यपि किसी व्यक्ति की प्रतिभा का अवदान है फिर भी जब मुद्रण के माध्यम से वह दूसरों तक —समाज तक संप्रेषित होता है तब वह एक सांस्कृतिक व्यवसाय भी बनता है और वह अकेले सर्जक की धरोहर नहीं रहता। यह सही है कि किसी भी साहित्यकार का स्वातंत्र्य और साहित्य की स्वायत्तता जिस सीमा तक किसी समाज में एक श्रेष्ठ मूल्य के रूप में सुरक्षित रखी जाती है उस सीमा तक वह समाज भी संस्कृति-सम्पन्न माना जाएगा और लोकतांत्रिक अनुशासन को महत्त्व देने वाला होगा। लेकिन आदर्श लोकतांत्रिक समाज में और सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध समाज में अनेक तनाव रहेंगे और साहित्यकार की स्वतंत्रता और साहित्य की स्वायत्तता का नितांत वैयक्तिक संदर्भ सामाजिक व्यापार से घिरा हुआ होगा। मेरी राय में साहित्य के आलोचक का कार्य किसी रचना विशेष या रचनाकार विशेष का विवेचन-विश्लेषण एवं मूल्यांकन करने तक सीमित नहीं है, वह साहित्य की प्रवृत्तियों को विश्लेषित एवं साहित्यिक इतिहास को प्रस्तुत करने तक सीमित नहीं है, वह साहित्य से सम्बद्ध साहित्य-बाह्य (?) या साहित्य से घनिष्ठ रूप में जुड़े प्रश्नों की आस्थापूर्वक चिकित्सा करने तक तथा साहित्य के सांस्कृतिक रूप से सम्बद्ध अनेक समस्याओं के चिंतन तक फैला हुआ है। अगर यह विचार स्वीकार किया जाय

तो आलोचना-विरोध का अर्थ होगा उस समूची सांस्कृतिक प्रक्रिया का विरोध जो साहित्य के निर्माण से लेकर साहित्य के प्रभाव तक व्याप्त है। क्या यह विरोध अन्ततोगत्वा संस्कृति-विरोध नहीं है, विचार-विरोध नहीं है, बुद्धि और विवेक-विरोध नहीं है? अतः आत्मनाश नहीं है? 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'।

लेकिन आलोचना-विरोध की भूमिका को अधिक गहराई में जाकर देखना होगा।

आलोचना का विरोध आज का ही नहीं है और आलोचना कार्य से अधिक वह आलोचक विशेष का विरोध है।

आलोचना का सृजनशील साहित्यकार गंभीरतापूर्वक विरोध कर रहा हो तो उसकी जड़ों की सर्वांगीण जांच की नितान्त आवश्यकता है। आज ही नहीं, आलोचना की स्थिति कभी संदेह के परे नहीं रही। भारतेन्दु युग के आलोचकों में विशिष्ट लेखक या कृतिविशेष को लेकर महाभारत खेला गया है और यह समझना भूल होगी कि उस समय यह युद्ध धर्मयुद्ध था और आज ही अधर्मयुद्ध हो गया है। जहां तक अतीत के कवि को लेकर वाक्-युद्ध हुआ वहां आलोचक पर पक्षधरता का आरोप लगाना मुश्किल था लेकिन परस्पर साहित्यिक समझ को लेकर व्यंग नहीं किया गया हो, ऐसा तो नहीं है। आज प्रेमचंद और निराला के जमाने से हम दूर आए हैं परन्तु क्या प्रेमचंद पर वाङमय-चौर्य का आधारहीन आरोप नहीं लगाया गया था? दूर की कौड़ियां लाकर उसे सिद्ध करने का प्रयास नहीं किया गया? क्या यह साहित्य के आयातित होने और वाङमय-चौर्य का आरोप लगाने की प्रवृत्ति आज की ही है? दुर्भाग्य यही रहा है कि यह आरोप करने वालों ने प्रमाण परिश्रम से जुटाए भी तो यह देखना भूल गए कि रचना 'समग्रता' में क्या कहती है, उसकी जड़ें देश की मिट्टी में गहरे गई हैं कि नहीं। यह सवाल कम विचार का मुद्दा बना कि आरोपित रचना अपने लोक का विशिष्ट अनुभव है कि नहीं। और यह भी कि वह विशिष्ट व्यक्ति का अनुभव भी है तो उसके लिए विरोध के रूप में ही क्यों न हो, हमारी जमीन कारण बनी है कि नहीं? 'शेखर : एक जीवनी' का शेखर भले ही एक नितांत अलग व्यक्ति हो (मतलब वह सामान्य भारतीय युवा वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला न हो— और न था यही तो अधिक अच्छा भी था) प्रश्न यह है कि उसका परिवार (मां-बाप, भाई-बहन पारिवारिक सम्बन्ध), उसका शिक्षा-प्रतिष्ठान, उसका सामाजिक यथार्थ (स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की विशिष्ट स्थिति जिसके विरोध में जाने के कारण शेखर-शशि के तनाव पैदा हुए, राष्ट्रीय माहौल, सामाजिक रिश्ते इत्यादि) भारतीय जमीन को ही उभारता है या नहीं। 'नदी के द्वीप', 'अंधेरे बंद कमरे', 'न आने वाला कल', 'लाल टीन की छत', और 'तत्सम' के चरित्र सामान्य समाज के औसत व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करने वाले न हों, उनकी प्रतिक्रियाएं जिस परिवेश में हो रही हैं वह परिवेश भारतीय है या नहीं यह मुद्दा विचारणीय है। आलोचना कार्य में एक बहुत बड़ा घपला इस कारण भी होता है कि अनेक आलोचक लेखक को यह स्वतंत्रता नही देते कि वह अपने चरित्रों को प्रतिनिधित्व करने वाले या औसत रहने न देकर विशिष्ट बनाए। बहुत कर कविता में कवि के अपने वैशिष्ट्य को, अपनी अप्रतिमता को उभारने नहीं देना चाहते हैं। इस स्थिति में अपने लेखकीय व्यक्तित्व की अप्रतिमता के प्रति सजग लेखक उसको सांचे में प्रतिबद्ध देखने की प्रच्छन्न या प्रकट आकांक्षा करने वाले आलोचक से कतराये या तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करे तो वह कुछ मात्रा में गलत हो सकता है, अस्वाभाविक नहीं है। (सब स्वाभाविक या सहज चीजें सही होती हैं, यह भी एक बड़ा भ्रम हमारे वैचारिक माहौल को दूषित करता है। मनुष्य की परिश्रम साध्य अर्जित संस्कृति पर वह आघात है। एक घटना याद आती

है—एक फ्रेंच लेखक की स्वाभाविक और सहज जीवन की प्रभावशाली मांग का प्रभावपूर्ण विवेचन पढ़कर दूसरे फ्रेंच लेखक ने प्रतिक्रिया व्यक्त की थी—तुम्हारी पुस्तक पढ़कर मुझे ऐसा लगा कि दो हाथ जमीन पर टेक कर चार पैरों पर खड़ा रहूं।)

बिना साहित्य के अनुभव से गहरे स्तर पर जुड़े और विवेकपूर्वक उसका साहित्यिक शर्तों पर सम्यक् आस्वाद—विवेचक आस्वाद लिये किसी दूरारूढ़ बात की समानता देखकर वाङ्मय चौर्य का या रचना के आयातित होने का आरोप जिस तरह लेखकों को तिलमिला देता है उसी तरह रचना को विशिष्ट विचार का संवाहक देखने और रचनाकार को विशिष्ट दृष्टि का प्रचारक देखने का दुराग्रह भी रचनाकार की स्वतंत्रता पर आघात करता है। इस संबंध में रचनाकारों पर बार-बार आरोप लगाया जाता है—उसके पास 'दृष्टि' नहीं है। यहां साहित्यकार के पास 'विशिष्ट वैचारिक दृष्टि' के होने पर ही आग्रह किया जाता है। दुर्भाग्य की बात यह है कि साहित्यकार का 'विज़न' और 'विशिष्ट वैचारिक दृष्टि' के बीच का बहुत बड़ा अंतर ही भुला दिया जाता है। अच्छे साहित्यकार के पास उसके अनुभव में 'विज़न' की एक 'क्वालिटी' होनी चाहिए—यह 'विशिष्ट वैचारिक दृष्टि' से अधिक व्यापक और गहनता के आयामों से जुड़ी हुई चीज होती है। साहित्यकार के महान अनुभव की यह 'नूतनता' होती है जो 'विज़न' कहलाती है। यह 'नूतनता' विचार से भी अधिक अनुभव के भावात्मक-संवेगात्मक आयाम से संबद्ध होती है और पूरी रचना में आशय से लेकर अभिव्यक्ति की बारीकियों तक परिव्याप्त होती है। जब साहित्यकार देखता है कि उसके 'विज़न' की उपेक्षा कर उसे विशिष्ट वैचारिक पक्ष का समर्थक बनाने का आग्रह है तो उसका मन उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया से व्याकुल हो जाता है। विशिष्ट वैचारिक दृष्टि के कायल होने का यह आग्रह लेखक को इसलिए कचोटता है कि यह उसकी चीजों के प्रति प्रतिकृत होने की स्वायत्तता को ही दबोचता है। सृजनशील मनुष्य का मन किसी भी परंपरित या पूर्वोक्त अवधारणाओं, भाव-प्रणालियों, विभावों-अनुभावों से अपने को बांधना नहीं चाहता क्योंकि ऐसा करना मनुष्य की सर्जनशील संभावनाओं को ही अनदेखा करना है और मनुष्य को वैचारिक अनुशासन की बंधी लीक में कवायद करने का ही आदेश देना है। लेखन-प्रक्रिया अपने आप में एक तरह की स्वतंत्रता की प्रबल मांग है और उसके खिलाफ जो भी आलोचक का आग्रह होगा वह रचनाकार को सह्य नहीं होगा। पूर्व-निर्धारित विचार अनुभव को न केवल एकोन्मुख करते हैं, वे कलाकार की मानसिकता में से उस अवचेतन को भी निःशेष कर देते हैं जिससे कलाकार ऊर्जा ग्रहण करता है, उसकी कल्पना की क्रीड़ा की जो आधार-भूमि है।

रचना से विशिष्ट दृष्टि की मांग करने वालों के साथ विशिष्ट दृष्टि या पूर्वाग्रह लेकर अनेक आलोचक रचना के पास जाते हैं। कुछ मार्क्सवादी होते हैं, कुछ जनवादी होते हैं, कुछ परंपरावादी होते हैं, कुछ अस्तित्ववादी होते हैं, कुछ सौंदर्यवादी तो कुछ रूपवादी। इधर भाषा-वादी भी अपने औज़ार तेज कर रहे हैं। असल में सामान्यतः आशय की चर्चा ही हिंदी में अधिक की जाती है। रचना में 'क्या कहा है' यह बताकर उससे मत-भिन्नता दर्शाना या सहमति व्यक्त करना ही आलोचना कर्म माना जाता रहा है। इस प्रकार की आलोचना में प्रायः अपने विचारों के अनुकूल होने पर या प्रभाव के अनुकूल होने पर रचना के बारे में जो अच्छे (प्रतिकूल होने पर बुरे) विशेषण जोड़ दिए जाते हैं उनसे लेखक को अच्छा भले ही लगे उसको संतोष नहीं होता, नहीं होना चाहिए। अगर आशय को—रचना के अंतर्गत समाविष्ट जीवनानुभव को सामने रखकर रचना की संरचना की बारीकियों को उद्घटित किया जाय तो आलोचना

अधिक प्रभविष्णु और कृति और कृतिकार के साथ न्याय करने वाली हो सकती है। परन्तु ऐसा कम होता है। हिंदी में भाषा के आधार पर आलोचना करने वालों ने 'जार्गन' का उपयोग कर रचना के आस्वाद को कुछ ऐसा धूमिल कर दिया है कि रचनाकार स्वयं इनसे कह सकता है कि उसे बचाओ। सही सौंदर्यवादी अथवा संरचनावादी आलोचना सामान्यत: कम आक्रामक होती है और उसकी अन्य कमियों के बावजूद रचना को वह केंद्र में रखती है अत: उससे रचना विशेष के कतिपय मार्मिक पक्ष खुलने की संभावना अधिक होती है। परंतु इस तरह की आलोचना भी हिंदी में बहुत विरल है। बहुत बार प्रभाववादी आलोचना सौंदर्यवादी आलोचना का बाना पहनकर प्रवंचना भी करती है। वैसे उपर्युक्त 'वादी' आलोचनाएं अपनी विशिष्ट पक्षधर दृष्टि से आलोचना करते हुए इस बात का विनम्र भाव रखतीं कि 'रचना' के पक्ष विशेष को उद्घाटित किया जा रहा है, समग्रता को नहीं तो तेवर में भी एक शालीनता, एक संकोच, एक वस्तुनिष्ठ दृष्टि का दबाव पैदा होता जिससे आलोचना कम अखरने वाली होती है। परंतु बहुत बार आलोचक का अपना अहं इतना भयानक होता है कि रचना उसके सामने ऐसे आती है जैसे भेड़िये के सामने बकरी आ गई हो। रचनाकार से अपनी कुर्सी चार इंच ऊपर है यह दिखाने का अभिमान इतना सिर पर चढ़कर बोलता है कि रचना का आस्वाद, रचना के माध्यम से रचनाकार के रचनारत व्यक्तित्व की पहचान, उसके असली शक्ति-केंद्रों की परख, उसकी सीमाओं का उसकी शक्ति के परिप्रेक्ष्य में आकलन, रचना की खास अपनी विशिष्टता और मूल्यवत्ता इत्यादि बातों का सही विवेक किए बिना ही 'जजमेंट' सुनाने का उतावलापन आलोचक पर हावी हो जाता है। ऐसी स्थिति में आलोचक के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो तो यह अस्वाभाविक नहीं है।

आलोचना-कर्म के प्रति वितृष्णा के और भी अनेक कारण हैं। हिंदी में सृजनशील लेखकों और प्राध्यापकों के बीच एक दंभ का मुकाबला कभी प्रत्यक्ष रूप में तो कभी प्रच्छन्न रूप में चलता रहा है। यहां इस लेख में केवल एक बात को स्पष्टतापूर्वक कहना आवश्यक जान पड़ रहा है। (अन्य अनेक मुद्दे फिर किसी दूसरे संदर्भ में उठाए जाएंगे।) एक प्राध्यापक को आज जितनी सुविधाएं हैं उतनी एक अच्छे लेखक को बहुत परिश्रम के बाद भी नहीं मयस्सर हो रही हैं, यह कटु वास्तविकता है। उपरिलिखित दंभ के मुकाबले में इस बात को लेकर ईर्ष्या नहीं है ऐसा तो नहीं कहा जा सकता परन्तु सृजनशील लेखकों को प्राध्यापकीय आलोचना से ही नहीं कुल साहित्य को पढ़ाने वालों के प्रति ही असंतोष है। असल में आज भी साहित्य का पाठक वर्ग शिक्षा-संस्थानों में फैला हुआ है या उन्हीं से अच्छे या बुरे संस्कार लेकर आ जाता है, यह वास्तविकता है। इस पाठक वर्ग तक रचानाकारों की पहुंच सही रूप में नहीं है, यह स्थिति का खतरनाक पहलू है। यह प्राध्यापकीय आलोचना रचना को रचना के स्तर पर न पढ़कर (अर्थात् न पढ़ाकर) छद्म विद्वत्ता के आधार पर पल रही है। हमारे शोध-प्रबन्धों में साहित्य के आस्वादन को छद्म-शोध विज्ञान के नाम पर निष्प्राण कर दिया जाता है। प्राध्यापकीय श्रेणियों की सीढ़ियां चढ़ने के लिए जिन भारी-भरकम पोथियों को लिखा जाता है इनमें साहित्य की संवेदनात्मक पहचान का महत्त्व नहीं है, साहित्य के हाशिए पर के प्रश्नों को केन्द्रीय स्थान दिया जाता है। साहित्य की जीवंत पहचानगी से कटे प्राध्यापक साहित्य क्या पढ़ाएंगे, यह तो हर छात्र के अनुभव की बात है। (मैं 'शीराज़ा' के संपादक महोदय से जाहिर प्रार्थना करता हूं कि वे एक बार विद्यापीठों में पढ़ने वाले छात्रों या उनसे बाहर आए स्नातकों से मुलाकात का इन्तजाम करें और उनसे यह पूछें कि उन्हें 'साहित्य' किस तरह पढ़ाया जाता है या था।)

स्वाभाविक है कि सृजनशील साहित्यकार ऐसी आलोचना से घबराए। ऊपर 'वादी' आलोचकों के जो प्रकार गिनाए गए हैं उनमें से एक का जान-बूझकर उल्लेख नहीं किया गया था। वह प्रकार है नीतिवादी आलोचकों का। प्राध्यापकीय आलोचना में यह स्वर बहुत ही मुखर रहता है। उन्हें हर समय यह चिंता रहती है कि स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों का किंचित खुलकर और जीवन के महत्त्वपूर्ण अनुभव के रूप में चित्रण आ जाए तो समाज की स्थिति गड़बड़ा जाएगी। इधर राष्ट्रीय स्तर पर संचार माध्यमों के द्वारा निरोध, नसबंदी, यौन-शिक्षा का प्रचार चल रहा है, सिनेमा का पूरा माहौल बच्चों को बिगाड़ने की (?) प्रतिज्ञा कर कार्यरत है, सिनेमा पत्रिकाओं की खपत और धांसू फिल्मों के अभिनेताओं, अभिनेत्रियों को देवता की भांति पूजा मिल रही है, कहीं तो राजनैतिक शक्ति भी फिल्मों के माध्यम से हासिल की जाती है। ऐसी स्थिति में अगर साहित्यकार—जीवन को गम्भीर नजरिए से देखने वाला साहित्यकार—हमारी और आपकी जिन्दगी की समस्याओं को स्पर्श करता है और उसमें यौन-अनुभव का समावेश हो जाता है तो उसका स्वागत इसलिए करना चाहिए कि वह हमें गम्भीरता से चर्चा का अवसर दे रहा है। लेकिन हमारी नीतिवादी प्राध्यापकीय आलोचना या तो ऐसे रचनाकारों पर दरवाजे बन्द कर देती है या कहीं उसका दरार से प्रवेश हो भी जाए तो नैतिकता की लाठी से पीटने की तैयारी में उत्साहित होती है। स्वाभाविक है कि ऐसे दुर्वासा ऋषियों से साहित्यकार बचना चाहेंगे।

प्राध्यापकीय आलोचना की एक महत्त्वपूर्ण एकांगिता का भी यहां विचार अपेक्षित है। इधर हम प्राध्यापक रसिक कम विद्वान अधिक हो रहे हैं। वस्तुतः साहित्य के प्राध्यापक के लिए जगन्नाथ पंडित का आदर्श सामने रखना चाहिए। वे जितने बलवान पंडित थे उतने ही प्रगल्भ रसिक भी थे। विद्वत्ता और रसिकता का मणिकांचन योग रामचंद्र शुक्ल में पुनः उतनी ही शक्तिमत्ता के साथ परिलक्षित हुआ। असल में रसिकता से दूर विद्वत्ता साहित्य के क्षेत्र में बांझ विद्वत्ता है। बहुत बार यह अनुभव होता है कि जो विद्वान भारतीय और पश्चिमी साहित्य शास्त्र की बारीकियों पर प्रचुर मात्रा में लिखता है वह रचना के साथ साक्षात्कार करने में हास्यास्पद बालैय प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। असल में इस प्रकार की एकांगी शास्त्रीय विद्वत्ता साहित्य के माहौल में नये पाठकों को रचना से दूर ही हटाती है। साहित्य शास्त्र का अध्ययन वह 'स्प्रिंगबोर्ड' है जिस पर जीवंत रचना का प्रभाव दूर तक उछाल लेता हो, तभी उसकी सार्थकता भी है। कभी-कभी यह भी लगने लगता है कि साहित्य ज्ञान के क्षेत्र में गहरे जाने वाले विद्वानों को साहित्यिक रचनाओं को पढ़ने में समय व्यतीत करना अनुचित लगता है। यह मानसिकता लगभग उसकी ही है जो कि टहनी पर खड़े होकर उसी को काट रहा हो। साहित्य क्षेत्र में शास्त्रहीन दूसरी सीढ़ी पर होता है, होना चाहिए। उसका महत्त्व साधन का है—वह रसिकता को अधिक प्रखर, तीव्र और धारदार बनाने में योग दे। महत्त्व जीवंत रसिकता का है। हमारे प्राध्यापक बंधु इस बात को जितनी जल्दी समझेंगे, उतना साहित्य का भला होगा। यहां शास्त्र का अध्ययन करने वालों के प्रति अनादर का भाव नहीं है, केवल साहित्य के आस्वादन में शास्त्र की उपयोगिता की जांच करना है। अगर शास्त्र का अध्ययन रसिकता या सहृदयता को जड़ीभूत बनाता है तो वहां शास्त्र साहित्य का शत्रु बन रहा है।

आलोचना के विरोध के लिए आलोचना की उपरोक्त स्थिति ही जिम्मेदार है, ऐसा मानना भी एकांगी दृष्टि का परिणाम होगा। हमारे सृजनशील लेखक भी कभी बहुत भावुक हो जाते हैं। आलोचक और रचनाकार के द्वंद्व में रचनाकार यह मानकर चलते हैं कि उनकी

कोटि आलोचक से ऊपर की है। परिणामतः एक सामान्य कवि 'क' अपने को रामचंद्र शुक्ल से उच्च कोटि का समझता है। इस भ्रम से सर्जक जितनी जल्दी बाहर आ जाए उतना अच्छा होगा। एक तो श्रेष्ठ रचनाकार और श्रेष्ठ आलोचक के बीच द्वंद्व असल में होता ही नहीं क्योंकि वे एक-दूसरे को आलोकित करते हैं। रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, नगेन्द्र, रामविलास शर्मा, नंद दुलारे वाजपेयी, नामवर सिंह इत्यादि आलोचकों ने जब अपनी सही भूमिका पूर्वाग्रह को छोड़कर निभायी है तब रचनाकारों के कतिपय पक्ष जो अन्यथा अनदेखे, अनछुए रहते—प्रकाश में आए हैं। लेकिन आलोचना का क्षेत्र दूषित हो जाता है अच्छे आलोचकों की गैर-जिम्मेदाराना उछल-कूद से और सामान्य आलोचकों के पूर्वाग्रह-दूषित पक्षधर जजमेंट से भी। रचनाकारों को भी जरा इस बात का ख्याल रखना चाहिए कि उनकी संतान केवल उनकी अपनी है इसलिए सर्वगुणसंपन्न नहीं होगी, सभी रचनाकारों, चूंकि वे सर्जनशील कोटि में आते हैं, की रचनाएं उच्च कोटि की नहीं होतीं और अच्छे रचनाकार की हर रचना गुणवत्ता की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं होती। जिस तरह श्रेष्ठ रचना देने के बाद कुछ कमजोर रचना देने वाले लेखक से आलोचक को यह उन्मत्त सवाल नहीं पूछना चाहिए कि वह लिख क्यों रहा है, उसी तरह रचनाकार को भी इस बात पर अधिक भावुक नहीं होना चाहिए कि उसकी हर रचना को उचित सम्मान क्यों नहीं दिया जा रहा है।

बहुत बार आलोचना का विरोध इस कारण से भी होता है कि आलोचक रचना की उपेक्षा करते हैं। वस्तुतः साहित्य के निर्माण और प्रकाशन का क्षेत्र इतना व्यापक हो गया है कि अच्छी रचनाओं को पढ़ना भी एक परिश्रमी व्यक्ति के लिए दूभर होता जा रहा है, फिर आलोचना के लिए रचना पर परिश्रम करना और भी कठिन हो रहा है। ऐसी स्थिति में किसी अच्छी रचना का उपेक्षित रहना असंभव नहीं है। हां, गुटबाजी में सामान्य रचना को उछालने और गुट में शामिल न होने वाले रचनाकार की रचना को उखाड़ने का जो घृणित व्यापार कहीं दिखता है वह अवश्य निंदनीय है और उससे समूचा सांस्कृतिक वातावरण ही बिगड़ने लगता है। परन्तु इस व्यावसायिक युग में इसका सामना करने का यह उपाय नहीं है कि समूचा आलोचना कार्य ही गर्हित माना जाए।

असल में आलोचना को हेय दृष्टि से देखने का परिणाम कुल मिलाकर साहित्यिक सृजन को ही निःशक्त करने में होगा। कुछ प्रतिष्ठित पत्रिकाओं ने समीक्षा कार्य बंद कर दिया है, कुछ पत्रिकाओं में अंतिम पन्ना समीक्षा के लिए दिया जाता है, कुछ संपादक स्थान के हिसाब से आलोचनात्मक लेखन पर कैंची चलाते हैं, यहां तक कि आलोचना को समर्पित पत्रिकाओं में भी विशिष्ट रचना की समीक्षाओं पर पृष्ठसंख्या का कड़ा बंधन डाल दिया जाता है। वस्तुतः यह सारा प्रयास इस बात का द्योतक है कि हम समीक्षा व्यापार को उपेक्षणीय मानते हैं। आखिर सवाल यह उठता है कि जो सृजनात्मक रचनाएं संपादक चुनता है और प्रकाशित करता है उसमें वह आलोचक बुद्धि से ही काम लेता है या किसी अन्य तरीके से रचनाओं का चयन कर उन्हें प्रकाशित करता है? क्या उसके द्वारा चुनी रचनाओं का निकष सामान्य पाठक की सहज अभिरुचि और पसंदगी ही है या उससे कुछ अधिक समीक्षा-विवेक अपेक्षित है? अगर समीक्षा-विवेक अपेक्षित है तो समीक्षा-व्यापार को हेय दृष्टि से क्यों देखा जाता है?

अच्छी रचनाओं का एक वैशिष्ट्य यह होता है कि वे बह्वर्थी और बहुआयामी होती हैं, अनुभव के अनेक स्तरों और प्रतीकार्थों को समाविष्ट किए रहती हैं। उनकी पूरी शक्ति को उद्घाटित करना समीक्षा विवेक का कार्य है और इसलिए समीक्षा के औजारों को तेज रखने की

नितांत आवश्यकता है। शेक्सपियर के नाटकों की पिछले दो सौ वर्षों में जो सूक्ष्म से सूक्ष्म जांच हो रही है उससे पाठक का सांस्कृतिक स्तर कुछ ऊंचा हो उठा है। यह मानी हुई बात है कि प्रतिभा की देन ईश्वर-प्रदत्त होती है या प्रकृति से मिली हुई परन्तु उसको खाद सांस्कृतिक माहौल में मिलती है। इस सांस्कृतिक माहौल को उर्वरा रखने का महत्त्वपूर्ण कार्य आलोचना-विवेक करता है। अगर हमारे यहां वैश्विक स्तर की रचनाएं नहीं होती हैं तो उनके लिए भूमि भी हम कहां निर्मित करते हैं। रचनाकार की रचनाओं का अनेक विद्वानों द्वारा विवेचन-विश्लेषण ही एक ऐसी चीज है जो आज हम रचनाकार के सम्मान के रूप में उन्हें प्रदान कर सकते हैं और उसका उत्साह बढ़ा सकते हैं। बात केवल उत्साह बढ़ाने की नहीं है, रचना को सांस्कृतिक जीवन में महत्त्वपूर्ण मानने की और तदनुसार हमारी अभिरुचियों को ढालने की है। मुझे हमेशा ऐसा लगा है कि किसी रचना के मर्म को उद्घाटित करने के उपरान्त लेखकों की जो प्रतिक्रियाएं मिलती हैं उन्हें पढ़कर आलोचना कर्म का श्रम सफल हुआ है और एक नैतिक और सांस्कृतिक दायित्व पूर्ण हुआ है। उसी समय हमारे आलोचक-बंधुओं की स्तब्धता भी खेदजनक लगी है। यदाकदा विरोध में तीखी प्रतिक्रिया करनी हो तो उत्तेजना रहती है। असल में मैं सोचता हूं कि हिंदी की अच्छी रचनाओं को लेकर क्रिया-प्रतिक्रियाओं का एक सिलसिला चलना चाहिए तभी विचाराधीन रचना के सारे पक्ष प्रकाश में आ सकते हैं। लेकिन हममें न उतनी उदारता है, न इस बात का भान कि एक सांस्कृतिक आबोहवा के निर्माण में हमें योग देना है। वस्तुतः लेखक आत्मसुखाय लिखता है और आत्माभिव्यक्ति के सुख के अलावा कला या साहित्य का कोई उद्देश्य नहीं होता, यह आंशिक सत्य है। अपने कलानुभव का संप्रेषण होने पर उसकी रसिकों पर जो अनुकूल प्रतिक्रिया होती है, उस 'सिद्धि' के लिए हर कलाकार उतना ही व्याकुल रहता है जितना निर्मिति के लिए। यह 'सिद्धि' ही वह प्रेरणा है जो रचनाकार के लिए बहुत बड़ी प्रेरणा का काम करती है। साथ-साथ यह भी सही है कि एक अच्छा पैदाइशी कलाकार उन थोड़े से समझदार रसिकों की प्रतिक्रिया के लिए लालायित रहता है, जो सांस्कृतिक वातावरण में विशिष्ट स्थान पर रहते हैं (यह स्थान वे अपने परिश्रम से अर्जित करते हैं और इसको स्वीकारना किसी प्रकार लोक का अपमान नहीं है।) समझदार रसिकों का यह छोटा-सा वर्ग ही समीक्षा विवेक का परिचय देता रहता है।

भावुक कलाकार किसी क्षण में भले ही समीक्षा-व्यापार से असंतुष्ट रहे, उसे अपनी सार्थकता का क्षण जितना कला की साधना में और अन्तर्गत उपलब्धि में प्राप्त है उतना ही उस छोटे गुट की अनुकूल, विवेकपूर्ण, निष्पक्ष और तटस्थ प्रतिक्रिया से—प्रतिक्रिया जो साहित्य या कला के समंजस विवेक पर और परिश्रम से अर्जित बौद्धिक क्षमता पर आधारित होती है।

असल में अच्छी सशक्त रचना का एक लक्षण यह है कि वह अपनी नूतनता के लिए पुराने निष्कर्षों का अधूरापन सिद्ध करे और नये निष्कर्षों की खोज के लिए समीक्षक को बाध्य करे। अच्छे समीक्षक को चाहिए कि वह साहित्येतिहास (या कला-इतिहास) साहित्य का वैश्विक संदर्भ, साहित्य शास्त्र (पुराना भी और नया भी), समाजशास्त्र, दर्शन इत्यादि के आधार पर अपने साहित्यास्वाद की मजबूत भूमिका तैयार करता रहे, अत्युत्कृष्ट कृतियों के संवेदनात्मक आस्वादन से अपना आस्वादन यंत्र अतिशय संवेदनशील बनाए रखे (इसके लिए साहित्य के अतिरिक्त संगीत, चित्र इत्यादि कलाओं का आस्वादन भी भरपूर उपयोगी होता है।) परन्तु इस समूचे आधार को लेकर जब नई रचना के सामने जाए तब नए अनुभव के स्वागत के लिए उत्साहित होकर जाए, अनुभव के सामने समर्पित भाव से जाए, शालीनता

और विनम्रता से जाए और उस नूतनता को ग्रहण करने के लिए अपना समूचा संवेदना-यंत्र समूचा आस्वादन विवेक इतना ग्रहणक्षम, लचीला और जिज्ञासु रखे कि कलाकार की समूची सर्जनात्मक तकलीफ का वह साक्षी रहे। असल में इधर मेरा विश्वास इस बात में गहन होता जा रहा है कि हर अच्छी रचना का मर्म समझने के लिए समूचे पूर्व-ज्ञान की समृद्धि के साथ उसको रचना के आस्वादन में एक ओर रखने की निर्लिप्तता भी आवश्यक है। उसी तरह हर अच्छी रचना एक अनुभव के क्षेत्र में नया अन्वेषण (invention) होती है उतनी ही महत्त्वपूर्ण जितना विज्ञान के क्षेत्र में कोई नया आविष्कार। अतः इसके लिए हर रसिक को उस कलाकार के प्रति कृतज्ञ होना ही चाहिए। आखिर जीवन की भौतिक सुविधाओं के लिए हम कृतज्ञ रहते ही हैं, आत्मिक सुख को उपलब्ध करा देने वालों के प्रति कृतज्ञता बोध में कंजूसी क्यों? आलोचक के शील में मैं इसे सबसे अधिक महत्त्व देता हूं और मानता हूं कि इस मनोभाव से आलोचना करने पर आलोचक का सही रचनात्मक रूप सामने आ सकता है। □

आलोचना के विरुद्ध एक प्रस्तावना

□ रमेश कुंतल मेघ

प्रमुख कलाओं में साहित्य एक भाषिक कला है। अन्य कलारूप (वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत) निर्भाषिक हैं। अतः उनका जो भाष्य होता है वह मूलतः शास्त्रीय एवं सैद्धांतिक है। व्यावहारिक होने पर वह सौंदर्यबोध शास्त्र एवं औद्योगिकी का मिश्रण कर लेता है।

इसलिए साहित्य को छोड़कर अन्य कलाओं में 'कलाकृति' को आशंसा और आनंद, मूल्य और मीमांसा, विज्ञान और तकनालोजी से भाषा की विभिन्न प्रोक्तियों में रूपांतरित किया जाता है। तदपि वहां कलाकृति का भाषिक पाठ **'एक'** ही है।

लेकिन 'साहित्यिक कृति' भाषिक होती है। अतः उसका प्राथमिक एवं प्रकृत पाठ तो साहित्यकार (कवि या लेखक) प्रस्तुत करता है। कोई भी भाषिक कृति अपनी संरचना में स्वायत्त तथा अपरिवर्तमान होती है। जब इसकी आशंसा या प्रभावना की जाती है तो हमें टीका, टिप्पणी, भाष्य, आलोचना आदि के ऐतिहासिक रूप मिलते हैं, जो एक नितांत दूजे प्रकार की भाषिक निर्मितियां हैं, जो प्रायः 'एक द्वितीयक भाषिक निर्मिति' है, जो साहित्य की भाषिककृत्ति पर आधारित होकर, अथवा न होकर, एक उप-पाठ, या सामानांतर पाठ, या एक द्वितीयक पाठ की हैसियत रखती है। अतः साहित्य-वृत्त में हमें 'दो' पाठ मिलते हैं— भाषिक कृति का रचनात्मक पाठ; तथा उस पर व्याखयात्मक पाठ। यही दोहरापन, संघर्ष तथा एकता, दोनों का हेतु रहा है।

इसका मतलब यह हुआ कि मूल 'कृतिपाठ' के **पीछे** और **पार** जाकर, उसके **अंदर** जाकर, अर्थात् उत्कीर्ण करके, अनुसंधान करके, गोताखोरी करके हम एक 'उप-पाठ' की, एक 'अन्य पाठ' की निर्मिति करते हैं क्योंकि मात्र भाववादी, या समसामयिक, या स्थूल दृष्टि से 'एक साहित्यिक कृति' नज़र नहीं आती है।

यह भी तो हो सकता है कि साहित्यिक कृति में विसंगतियां हैं; उसकी विश्व दृष्टि हमें— इतिहास क्रम में मंजूर नहीं है। लेकिन न तो हम कृतिपाठ को बदल सकते हैं, न उसके अंश हटा सकते हैं; न ही उसे दोबारा लिख सकते हैं।

लेकिन सामाजिक इतिहास के लेखन एवं उसकी व्याख्या के अनुक्रम में हम समानांतर,

प्रकारांतर से, कृतिपाठ का विलक्षण अनुवाद-सा करते हैं, उसे रूपान्तरित करते हैं; और देशकाल-पक्ष पर एक नव्य पाठ-निर्मिति भी करते हैं (जो पाठ-रचना या पाठ-प्रतिलिपि नहीं है)। अगर कहीं विज्ञान या समाजविज्ञान का क्षेत्र होता तो हम कैपलर या न्यूटन के सिद्धांतों को, अथवा फैराडे या रांटिजन के विद्युत् नियमों को अथवा डार्विन या मैक्सवेबर की अवधारणाओं को पूरी तरह से खारिज करके ही आगे बढ़ सकते हैं। किंतु साहित्यिक कृतियों को हम कदापि खारिज नहीं कर सकते; उनमें निहित वस्तु-रूप को हम बदल नहीं सकते। हम उन कृतियों का परित्याग भी नहीं कर सकते। हम उनके उत्तराधिकारी होते हैं। वे परंपरा बनाती हैं।

इसलिए हमारे पास केवल दो विकल्प रह जाते हैं :—

(क) अगर हम रचना और आलोचना को एक ही संघटना का व्यापार मानें तो फिर हमें कालिदास-मल्लिनाथ, भवभूति, भूधर, प्रसाद-नंददुलारे वाजपेयी, कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, तुलसी, आचार्य शुक्ल को कोष्ठकायित करना होगा। यहां देश और काल के भेद इस तरह हस्तक्षेप करेंगे कि एक स्थायी 'कृति' तो इनकी उल्लंघना करती चलेगी किंतु परिवर्तमान 'आलोचना' निरंतर बदलती-विकसती चलेगी। अतः ऐसे तंत्र में रचना और आलोचना की भाषा की वैचारिकता एवं व्याकरणता के विभेद भी मिटाने होंगे। ऐसे में तो बस देश-काल ही भून भाववादी आलोचना तथा भाषावैज्ञानिक शैली वैज्ञानिक विश्लेषण ही उपलब्ध हो सकेंगे तथापि एक रचना की सृजन-प्रक्रिया, तथा (उस पर निर्भर) आलोचना की सिद्धि निर्मिति का तकनीक नितांत विभेदीकृत होंगे। फिर; जब हम रचना और आलोचना को, कृति और शास्त्र को, रचनाकार और आलोचक को अलग-अलग पाते हैं तब ऐसे में 'आलोचना' को कहां वर्गीकृत करें? वह (रचनात्मक) कला साहित्य का अंग तो नहीं ही है; अलबत्ता राज-शेखरीय साहित्य पुरुष की कोई संगिनी हो सकती है।

एक रास्ता ऐसा भी रहा है जो इतिहास विवेक अनुभव को उप सिद्धांतों या थियोरियों में बदलता रहा है। मसलन, सामाजिक यथार्थता (अनुकृति; अभिव्यंजना), तथा सामाजिक उपयोगिता (रसास्वाद, विरेचन, पुनः प्रस्तुतीकरण) की व्यासरेखा पर 'साहित्य' स्वयं एक सिस्टम मान लिया गया। अतः साहित्यसिद्धांत, साहित्य शास्त्र, काव्य शास्त्र एक स्वतंत्र तथा स्वायत्त अस्तित्व लेकर प्रस्तुत हुए। साहित्यशास्त्र-धुरी पर विभिन्न दर्शन, नीतिशास्त्र, कर्मकांड, कामशास्त्र, विधिशास्त्र, ज्योतिष, वैद्यक विज्ञान और तकनॉलाजी शामिल होते रहे। उनमें साहित्यिक कृतियां मात्र लक्षणों एवं दृष्टांतों के उदाहरण होकर आईं। भरत और शूद्रक, अभिनवगुप्त और कालिदास, मम्मट और श्रीहर्ष, महावीर प्रसाद द्विवेदी और मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य शुक्ल और जायसी, रामविलास शर्मा और निराला, शिवकुमार मिश्र और नागार्जुन, चंचल चौहान और मुक्तिबोध के बीच तथा उनके ग्रंथों एवं कृतियों के बीच क्रमशः **आधेय-आधार के पराश्रित सम्बन्ध** नहीं रहे, बल्कि **समानांतर पूरक सम्बन्ध** कायम हुए। कारण कि, ग्रंथ एवं कृति, दोनों ही एक ही सामाजिक फेनामेना (संघटना) की देन हैं, यद्यपि दोनों की भिन्न-भिन्न निजी विलक्षण प्रकृति है। दोनों को मिलाकर ही साहित्य के सिद्धांत तथा साहित्य के इतिहास के ध्रुवांत बनते हैं जिससे स्वयं 'साहित्य' **भाव** तथा **चिंतन** के सह-सम्बन्ध से, सामाजिक-ऐतिहासिक विकास की एक एजेंसी बनता है। ज्ञातव्य है कि बिंब या भाव (कृति) तथा चिंतन या विश्लेषण (ग्रंथ) के सहकार से ही 'साहित्य' संस्कृति का निर्माता होता आया है।

(ख) अब हम **'साहित्य' के सिस्टम** में रचनात्मक कृति को रखें तथा साथ में प्रभावना,

आशंसा, आस्वाद, अभिरुचि को भी शामिल कर लें। यह 'कृतिपाठ' की धुरी है। यहां बिंब एवं 'भाव' का, अनुभव एवं कल्पना का वर्चस्व है। यहां रूपकात्मक तथा साम्यात्मक अधिभाषाओं का व्यवहार होता है।

इसी के समानांतर, तथा पृथक्, हम **'समाजसांस्कृतिक दर्शन'** के सिस्टम में व्याख्यात्मक ग्रंथ को रखें तथा साथ में दर्शन और समाज विज्ञान, विज्ञान और प्रौद्योगिकी (तकनॉलाजी), मूल्य और विश्लेषण को गूंथ दें। यह समानांतर उप-पाठ की धुरी है। यहां विश्लेषण एवं 'दर्शन' का वर्चस्व है। यहां तथ्यात्मक एवं निर्वचनात्मक भाषाओं का व्यवहार होता है।

इस तरह साहित्यिक कृति और उस पर आश्रित आलोचना, तथा साहित्यिक सिस्टम के अंतर्गत एवं दृष्टांत की प्रणालियों के बाद हम साहित्यिक सिस्टम तथा साहित्यिक संस्कृति के सिस्टम को अलग-अलग करने को विवश हैं। पहले की दोनों ही प्रणालियां आज अपर्याप्त होंगी क्योंकि आज हम न तो आलोचना को केवल कृतियों की परजीवी, घटिया तीसरे चौथे दर्जे की चाटुकारिता या निंदा के रूप में बना रख सकते हैं और न ही साहित्यसिद्धांतों (ग्रंथ) द्वारा रचनात्मकता तथा कृतियों को मात्र उदाहरणों एवं लक्षणों के स्तर तक गिराये रख सकते हैं।

दर्शन और व्याख्या से विहीन केवल कविता, कहानी, नाटक उपन्यास आदि कोई खास सामाजिक प्रासंगिकता नहीं रख सकते। वे संस्कृति-निर्माता नहीं हो सकते। इसी तरह बिंब और भाव की प्रकृति को महत्त्व दिये बगैर केवल समाज-वैज्ञानिक तथा समाज-सांस्कृतिक व्याख्याएं भी प्रभावशाली ढंग से संदेश को प्रकार्य में नहीं बदल सकतीं। अब तक भी हम भाव-वादी-प्रभाववादी आलोचना की, अकादमिक आलोचना की, पत्रकारी (रिव्यू वाली) समीक्षा की, पाठ्यक्रमों की टीका टिप्पणी वाले महाभाष्यों की छीछालेदर देख रहे हैं। अकसर यह प्रतीत होने लगता है कि 'आलोचना' का कोई स्वरूप ही नहीं है। न तो वह 'साहित्य' के रचनात्मक चक्र का हिस्सा है; और न ही अशुद्ध करने वाले समाज विज्ञानों की पद्धति तथा स्तर को छू पा रही है। यही प्रतीत होता है कि 'आलोचना' किसी एक या अनेक साहित्यिक कृतियों की परोपजीवी होकर अपनी मूल आत्मा—अर्थात् विश्लेषण और दर्शन—से ही विच्छिन्न हो चुकी है। वह भारतीय समाज के 'संश्लिष्ट सांस्कृतिक जेस्टाल्ट' के अनुभव से लगभग निस्पंद है। अतः उसकी सार्थकता कृति के प्रति पाठ को केवल पाठ्यक्रम तक तथा स्टेट बैंक तक पहुंचाने में रह गई है।

विश्वपुस्तक मेलों तथा राष्ट्रीय पुस्तक मेलों में हिन्दी तथा भारतीय भाषाओं के स्थलों वाले भवनों में न तो अपेक्षित भीड़ होती है और न ही बिक्री क्योंकि समाज के सभी वर्गों के सभी उम्र वाले लोग केवल कविता-नाटक-उपन्यास ही तो नहीं मांगते, वे केवल इन पर कुंजीनुमा पाठ्यक्रमी आलोचनाएं तो फूटी आंखों भी नहीं देखते। अतएव हिन्दी की रचनात्मक एवं आलोचनात्मक पुस्तकें पच्चानवे प्रतिशत साहित्यिक मुद्दों पर होती हैं और खालिस ढंग से सरकार द्वारा थोक खरीद में फेंक ली जाती हैं। आजकल विराट प्रेस उद्योग के जबड़ों की जुगाली के लिए जिस तरह अधकचरी—बचकाना रचनात्मक कृतियां धड़ाधड़ मंडी को पाट रही हैं, उसी तरह आलोचना भी निर्धारित पाठ्यकृतियों तथा पाठ्यकृतियों में संकुचित, अतः पूर्णतः शुद्ध, हो रही है। दोनों ही अधिकांशरूपेण समाज और संस्कृति की प्रासंगिक तथा सार्थक समझ नहीं दे रहे हैं। तथापि यहां हमारा सरोकार आलोचना से है।

सर्वमत से सभी पाठ्यकृतियों वाली आलोचना को आलोचना नहीं मानते; उसके विरुद्ध हैं। तो भी उसके पाठ्यक्रमी चक्र द्वारा बैंक खाते तक पहुंचते हैं।

आचार्य शुक्ल की बलशाली धारा में एक अमूर्त ढंग का पुनरुत्थानवादी लोकमंगल भी चल निकला। साहित्य को समाज का दर्पण बनाते हुए साहित्य में समाज का बिंब देखने के बजाय आभिजात्य आलोचना में रस, भाव, रीति, ध्वनि आदि की प्रतिष्ठा सीधे तौर पर हुई। वह ज्यादा प्रासंगिक नहीं हो सकी। नगेंद्र और विद्यानिवास मिश्र के गंभीर प्रयास समकालीन यथार्थ तथा आधुनिक समाज के जटिल कूटों को अपने पूर्ववर्तियों की तरह नहीं खोल सके। पुरातन मानदंडों को समकालीन संस्कृति तथा आधुनिक समाज में भी प्रासंगिक मानने या लागू करने के अपने ईमानदार प्रयासों के बावजूद विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नगेंद्र, विद्यानिवास मिश्र, चन्द्रभान रावत, राममूर्ति त्रिपाठी, प्रेमस्वरूप गुप्त, तारकनाथ बाली, देवर्षि सनाढ्य, मनोहर लाल गौड़ आलोचना के मृच्छकटिक को साइकल नहीं बना सके। तथापि इनमें शास्त्रीय ज्ञान का छत्र जगर-मगर करता है।

प्रमुखतया साहित्य-शास्त्र सिद्धांतों के आधार वाली आलोचना समकालीन एवं आधुनिक साहित्य से विच्छिन्न-सी होकर मात्र शास्त्रीय तथा सैद्धांतिक रह गई। संश्लिष्ट संस्कृति तथा जटिल समाज से यह धारा वैसे भी अपनी शुचिता बचाती रही है।

क्लासिकी रस, भाव, रीति, ध्वनि आदि की पदावली को पाश्चात्य बिंब, प्रतीक, मिथक, विरोधाभास, तनाव, अर्थभ्रांति आदि के पारिभाषिकों से स्थानांतरित करने की कोशिशों में आलोचना ने नृतत्त्वशास्त्र, सौन्दर्यबोधशास्त्र तथा आधुनिक भाषिकी का यथातथा उपयोग किया। इन्द्रनाथ मदान, रामस्वरूप चतुर्वेदी, जगदीश गुप्त, कुमार विमल, बच्चन-सिंह, प्रभाकर श्रोत्रिय, परमानंद श्रीवास्तव, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, दुग्धनाथसिंह, विजेंद्र नारायणसिंह, रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव, कृष्णकुमार शर्मा तथा नवल किशोर आदि ने साहित्य की संरचना में, तथा साहित्यिक कृति के रूप में विश्लेषणात्मक विविधता का ऐश्वर्य प्रदान किया है।

अन्य एवं अनेक ज्ञानानुशासनों से आयत्त शब्दावली का प्रयोग हमारी आधुनिक आवश्यकता तथा प्रासंगिकता है। इसके द्वारा ही हम केवल अपने 'सांस्कृतिक जेस्टाल्ट' के सक्रिय अंग ही नहीं बनेंगे, बल्कि आलोचना को एक अमूर्त रेशम-रोयें से निकालकर समाज एवं संस्कृति की समाज सांस्कृतिक समझदारी और व्याख्या, और परिवर्तन की त्रयी से भी जोड़ देंगे। हजारी प्रसाद द्विवेदी से ऐसी शुरुआत हुई। रामविलास शर्मा, भगवत शरण उपाध्याय, रमेश कुन्तल मेघ, विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, मैनेजर पांडेय, इन्द्रनाथ चौधरी, राजेश्वर सक्सेना, कमला प्रसाद पांडेय, कपिलमुनि तिवारी, एस० टी० नरसिंहाचारी, सुरेन्द्र चौधरी, विजयदेव नारायण साही आदि की आलोचना में यह प्रवर्द्धमान है। अनेकानेक ढंग से ऐसी 'आलोचना' पूर्ववर्ती आलोचना की घिसी-पिटी अवधारणाओं के विरुद्ध है। इसमें विभिन्न समाज विज्ञानों की प्रकृत दृष्टियों तथा प्रामाणिक शब्दावलियों का (रजिस्टर सम्मत) प्रासंगिक अनुप्रयोग हो रहा है। अतः इसमें कोई हर्ज नहीं होगा कि अब हम आलोचना को साहित्य— विशेषतः कृति—के केंद्राभिसार से विमुक्त करके केंद्रापसारी बनाने के इस ऐतिहासिक संघर्ष में उसका कोई दूजा नामकरण भी कर दें। सामाजिक सरोकार से जागरूक, सामाजिक हस्तक्षेप करने में सक्रिय प्रेरक ऐसी नयी चिन्तन विधा में समाज विज्ञानों की पद्धति तथा सांस्कृतिक जेस्टाल्ट का संदर्शन

समाविष्ट हुआ है। अब यह विश्लेषण—विचारधारण से संयुक्त है। यह विशुद्ध न होकर संश्लिष्ट है। मुख्यत: साहित्यिक संदर्भों वाली न होकर बहुआयामी है।

आधुनिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक सिस्टमों में रचनाकारों, तकनीशियनों, राजनेताओं समाजवैज्ञानिकों, दार्शनिकों, आदि की विशेष अभिभूमिकाएं भी हैं। रचनाकारों ने विभिन्न पेशे तथा अभिभूमिकाएं (रोल्स) ग्रहण किये हैं : फणीश्वर नाथ रेणु नेपाली मुक्तिसेना के एक लड़ाकू थे, उपन्यासकार जगदीश चंद्र अर्थशास्त्री हैं, शानी का संबंध नृतत्त्वशास्त्र से रहा है, श्रीलाल शुक्ल एक प्रशासक हैं, नचिकेता ओवरसियर हैं, हरिनारायण वाजपेयी मेडिकल डॉक्टर हैं, गिरीश कर्नाड फिल्म-निर्देशक हैं, कुंवर नारायण व्यापारी हैं, राजेंद्र यादव सिद्ध प्रकाशक हैं। यद्यपि अभी हमारे समाज में विभिन्न पेशों की ऐसी विविधताएं कम हो रही हैं क्योंकि रोजगार, कौशलों तथा रुचियों के बदलाव के एक समान मौके बेहद कम हैं। किन्तु ऐसा होने पर स्वयं 'साहित्यिक कृति' में भी भाव-बिंब के प्रकटावों के साथ-साथ विश्लेषण-चिंतन की परोक्ष (अवगुंठित) अंतर्वस्तु (लेटेन्ट कान्टेन्ट) भी समाहित हो रही है। ऐसे में आलोचना की प्रचलित विधियां तथा शब्दावलियां निरर्थक तथा अपूर्ण हो गई हैं। वर्तमान साहित्यिक कृति की सामाजिक-सांस्कृतिक जटिलता को व्याख्यायित करने के लिए आलोचना में भी समाज तथा संस्कृति से संबंधित ज्ञानानुशासनों का प्रामाणिक व्यवहार होना चाहिए। इसके अभाव में आधुनिक कृति आलोचना के समानांतर नहीं, विरुद्ध मोर्चे पर आ डटती है।

इसलिए साहित्य/कृति का **अध्ययन** या **आलोचना** के आधुनिक उपागमों को लागू करने में उनकी यथेष्ट अर्हता तथा प्रवीणता लाजिमी है। उदाहरणार्थ—बिना समाजशास्त्र की योग्यता अर्जित किये हुए प्रेमचंद के उपन्यासों की समाज शास्त्रीय आलोचना; बिना सौंदर्यबोधशास्त्र का अध्ययन किये हुए प्रसाद के काव्य का सौंदर्यबोधशास्त्रीय अध्ययन; बिना नारी-मनोविज्ञान को समझे हुए मीरा बाई के काव्य में नारी-मनोविज्ञान का अनुशीलन, बिना राजनीतिशास्त्र की समझ के नागार्जुन के उपन्यासों में राजनीतिक चेतना की समालोचना; बिना इतिहासदर्शन की निष्कृति के राहुल सांकृत्यायन के उपन्यासों में ऐतिहासिक चेतना का निरूपण; बिना नृतत्वशास्त्र में अनुप्रवेश के आंचलिक धारा में लोकसंस्कृति का दिग्दर्शन; बिना अर्थशास्त्र के मापन सीखे हुए तुलसी के कृतित्व में समाज के वर्गीय संबंधों का निर्णय आदि फिजूल हैं। कम-से-कम हिन्दी की (अकादमिक तथा रिसर्च वाली) आलोचना में ऐसी अनपढ़ मूढ़ता ही ज्यादातर परिव्याप्त तथा परिलक्षित हो रही है। क्या इन्हीं किस्मों को 'आलोचना' कहा जा सकता है? ये तात्विक ढंग से 'भड़ौआ' हैं; इसके अलावा और कुछ नहीं।

लेखकों.कत्रियों की तरह आज आलोचक या संश्लिष्ट-संस्कृति-व्याख्याता भी अपने पेशों तथा अभ्यासों में विविधीकृत हुए हैं। जैसे; लल्लन राय ने राजनीतिशास्त्र में, रमेश कुंतल मेघ ने विज्ञान में, कृष्ण कुमार शर्मा ने भौतिकशास्त्र में अर्हताएं हासिल की हैं जिससे उनके ज्ञान की संरचना तथा विश्लेषण की पद्धति में फ़र्क है। तुलनात्मक साहित्य में कम से कम दो विभिन्न साहित्यों या कृतियों के रूपान्तरण में दो विभिन्न भाषा-संरचनाओं में किसी व्यक्ति के निष्णात् होने की शर्त होती है। इसी तरह सही, समकालीन तथा सार्थक आलोचना में कम-से-कम एक ऐसे अन्य ज्ञानानुशासन में निष्णात् होने की शर्त होना चाहिए जो रूप तथा वस्तु, भाव तथा चिंतन, शब्द तथा शैली, व्यक्ति तथा समाज, समाज तथा संस्कृति के बीच परस्पर पूरक हो।

इतिहास और समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और तर्कशास्त्र, अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र,

सौंदर्यबोधशास्त्र और दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र और विधिशास्त्र आदि के अंतर्वर्ग ऐसे ही हैं जो साहित्य/कृति की मूल मानसिकता के अनुरूप चुने जा सकेंगे।

रामविलास शर्मा ने भाषाविज्ञान को, विश्वंभरनाथ उपाध्याय ने इतिहास को, बच्चन सिंह ने नव्य आलोचना को, शिवकुमार मिश्र और कर्णसिंह चौहान ने क्लासिकी मार्क्सवाद को, कुंवरपाल सिंह ने राजनीतिक आर्थिकता को, रमेश कुंतल मेघ और नंदकिशोर नवल ने समाजशास्त्र को मिलाने की समर्थ चेष्टाएं की हैं जिससे आलोचना अथवा **'संश्लिष्ट सांस्कृतिक व्याख्या'** को अपने इतिहास में पुनः एक पृथक् अस्मिता मिल रही है।

साहित्य के माध्यम से **भी** संश्लिष्ट सांस्कृतिक व्याख्या वाले नये अनुशासन में ज्ञान की संरचना भी बहुआयामी तथा संश्लिष्ट हो रही है। इसके अंतर्गत 'प्रकट अंतर्वस्तु' तो अनिवार्यतया साहित्य,कृति की है किन्तु 'परोक्ष अंतर्वस्तु' उस उपागम (सौंदर्यबोधशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविश्लेषण, अस्तित्ववाद आदि) की है जो मूल पाठ के परे एक उप-पाठ का मानसी निर्माण करता है। दोनों ही अंतर्न्यन्य स्तरों पर समाज एवं संस्कृति, मनुष्य एवं प्रकृति की व्याख्या के लिए संदर्भानुकूल विभिन्न ज्ञानानुशासनों तथा विषयों के पारिभाषिक तथा अवधारणा से निर्वचित होकर 'कृति' को एक 'सांस्कृतिक तथ्य' में एक 'दस्तावेज़' में रूपांतरित तथा अनूदित कर देती हैं। वही साहित्यिक कृति एक सांस्कृतिक तथ्य, एक ऐतिहासिक दस्तावेज़, एक सामाजिक फेनामेना के रूप में पुनर्प्रस्तुत हो जाती है। उसकी प्रतीति तथा प्रामाणिकता तर्कात्मक एवं वैज्ञानिक हो जाती है। कृति का उक्त रूपांतरण लाल स्याही से रेखांकित किया जाना चाहिए।

एक स्वायत्त विधा (योनर) के रूप में आज आलोचना एक **'संश्लिष्ट सांस्कृतिक व्याख्या'** के रूप में विकसित हो रही है जो अब केवल साहित्य की परजीवी नहीं है और जो साहित्य की भावप्रकृति से नितांत पृथक् है। □

आलोचना के विरुद्ध....?

सुरेश धींगड़ा

रचना और आलोचना के बीच द्वन्द्व की स्थिति हमेशा से बनी रही है—शायद तभी से जबसे मानव ने रचना-धर्म का पालन करना शुरू किया था। आलोचनात्मक दृष्टि ने जहां रचना-धर्म में उत्तरोत्तर विकास की दिशाओं की ओर संकेत किये होंगे, वहां कई रचनाओं पर असमय कुठाराघात भी किया होगा। आलोचना की यही दोहरी भूमिका इस द्वन्द्व का कारण भी बनी होगी। इसी पृष्ठभूमि में रचनाकार में अपनी रचना को लेकर अतिरिक्त वेदना और मोह का भाव भी रहा होगा तथा यशःकामना की पूर्ति में उत्पन्न अवरोध के प्रति विधि और विद्रोह भी। और भी एक कारण साफ-साफ समझ में आने वाला है—रचना-धर्म समकालीनता से साक्षात्कार की मांग भी करता है, लेकिन आलोचना-धर्म स्थापित सिद्धांतों, नियमों, परम्पराओं और विचारों आदि से आगे नहीं ले जाता। कालिदास का ही उदाहरण लें। 'कुमार सम्भव' के शिव-पार्वती प्रणय-प्रसंग के संदर्भ में शिव और पार्वती के प्रणय-प्रसंगों का उन्मुक्त वर्णन शालीनता के विरुद्ध तो था ही, पर जन-मानस (धर्मवेत्ताओं का मानस ?) को चोट पहुंचाने वाला भी था। कालिदास का संवेदनशील रचनाकार इस बात को कैसे स्वीकार कर लेता कि शिव और पार्वती के विवाह के एकदम बाद बिना रति-क्रीड़ा के सन्तान का जन्म हो सकता है। विवाह और सन्तानोत्पत्ति के बीच का समय शिव और पार्वती ने कैसे व्यतीत किया, इसके वर्णन के बिना काव्य शुष्क हो जायेगा, इस बात की सम्भावना थी। कालिदास ने इस आलोचना के कारण कितना अनुताप सहन किया होगा, कितना अपने रचनाकार को दबाकर रखा होगा, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है। यदि वह प्रणय-प्रसंग पूर्ण नहीं हुआ, तो यह आलोचना की रचना पर विजय थी। तुलसीदास और केशव को भी संस्कृत छोड़कर **भाषा** में रचना करने पर अपनी कृतियों के माध्यम से **बुधजन** से क्षमा मांगनी पड़ी थी। वे जानते थे कि वे आलोचक बुधजन उन्हें क्षमा नहीं करेंगे, लेकिन इसी के माध्यम से उन्होंने भाषा में रचना करने की तत्कालीन अनिवार्यता को रेखांकित भी किया था।

आलोचना का पूरा इतिहास अपने आप में इस बात का प्रमाण है कि उसने समय की मांग को पूरा नहीं किया। समय से आगे निकलने का प्रश्न तो उस स्थिति में बहुत

बड़ा है। तल क्या आलोचना की प्रासंगिकता पर प्रश्न-चिह्न लगाया जाए या इसकी किसी दूसरी भूमिका की तलाश की जाय?

इस सवाल के पहले हिस्से को देखें। आलोचना की जरूरत किसे है? शायद यह कहा जा सकता है कि आलोचना की जरूरत रचनाकार से अधिक उस समुदाय के लिए है, जो लेखन के बारे में जानना चाहता है। इस समुदाय में विशाल पाठक वर्ग है, जिसमें अध्यापक है, विद्यार्थी हैं, 'सामान्य पाठक है'। लेकिन इतना कह देने भर से बात पूरी नहीं हो जाती। इस बात से दूसरी किस्म के सवाल पैदा हो जाते हैं क्योंकि विद्यार्थी-समुदाय के लिए जिस आलोचना की आवश्यकता है, उसे अध्यापकीय आलोचना का नाम देकर नकारा जा सकता है। यह प्रश्न भी किया जा सकता है कि विद्यार्थियों के लिए एक विशेष प्रकार की तात्विक-आलोचना की ही अनिवार्यता क्यों है, उन्हें समय के अनुरूप ज्ञान की खोज की दिशाएं क्यों न सुझाई जाएं। और यह प्रश्न हमें शिक्षा, अर्थ-व्यवस्था, समाज-व्यवस्था आदि के जटिल प्रश्न-क्षेत्रों में ले जा पटकेगा। तब हमें दूसरी किस्म के उत्तर तलाशने होंगे, और हमारी दृष्टि आमूल परिवर्तित हो जायेगी। शायद इस दृष्टि-बदलाव से ही हमें आलोचना की प्रासंगिकता के समर्थन में या उसके विरुद्ध कुछ सूत्र हाथ लग सकेंगे।

वस्तुतः आलोचना के क्षेत्र में इस बात का व्यवस्थित प्रयास कम हुआ है कि उसे एक प्रकार के समीक्षात्मक विश्लेषण का रूप दिया जाए। अधिकांश आलोचना विरोधनुमा स्वरों की पहचान कराती रही है। इसमें सन्देह नहीं है कि शास्त्रीय आलोचना में कृति के तात्विक कणों के खोलने का प्रयास किया गया था (यद्यपि कालान्तर में वह एक जटिल और अगतिशील प्रक्रिया में परिवर्तित हो गई थी), किन्तु मध्ययुग में यह दृष्टि साफ नहीं थी और न ही प्रक्रिया पूर्ण सिद्ध हो सकती थी। कबीर या अन्य सन्त कवियों की कृतियों में इस प्रकार की टिप्पणियां मिलती हैं। उनके द्वारा व्यवस्था के नकार में भी यह देखा जा सकता है।

तब यह कहा जा सकता है कि रचना का विधान ही आलोचना के रूप को निर्धारित करेगा, यानी आलोचना के लिए यह अनिवार्य होगा कि वह रचना के जटिलतर होते विधान को आत्मसात करे। लेकिन कम-अज-कम हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में तो ऐसा नहीं हुआ। 'आधुनिक' हिन्दी-आलोचना के विधाता रामचन्द्र शुक्ल ने भले ही अपने समय से काफी पहले लिखी गई रचनाओं की अच्छी आलोचना की हो, परन्तु उनकी आलोचना-प्रक्रिया बहुत कुछ उल्टी थी। अधिकांशतः उन्होंने 'वैल्यू-जजमेण्ट' दिया है क्योंकि आलोचना के रूप में स्वयं शुक्ल जी की दृष्टि प्रधान हो गई है तथा रचना-दृष्टि, रचना-प्रक्रिया, युगीन-विचार आदि गौण। कृष्ण के लोक-रंजक रूप की तुलना में मर्यादापुरुषोत्तम राम के लोक-मगल रूप को महत्त्व देने या तमाम छायावादी काव्य को नकारने में इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। आलोचना की संगठित विधि के विकास के प्रयत्न बहुत बाद में शुरू हुए हैं। कहा जा सकता है कि प्रगतिशील दौर में ऐसे प्रयास किए गए हैं परन्तु हुआ क्या? प्रगतिशीलों ने जिन दिशाओं की ओर संकेत किया था, उन्हें त्याग दिया गया नज़रअन्दाज कर देना अच्छा समझा गया। मुक्तिबोध का उदाहरण लें। कामायनी के अध्ययन की समस्याओं या सौन्दर्य-शास्त्र की नयी परिभाषाओं और स्वरूपों को तलाशते हुए उन्होंने अपने समय और अपने समय से पूर्व की 'मूर्खताओं' को उद्घाटित किया और उनका भरसक उत्तर भी दिया। हम उनकी बात से पूर्णतः सहमत न हों, यह एक अलग बात है, लेकिन इस बात से इंकार करना कठिन होगा कि मुक्तिबोध ने आलोचना के क्षेत्र में उत्पन्न अवरोधों को तोड़ा और इस ओर संकेत

किया कि रचना और आलोचना के बीच ऐसा रिशता है कि आलोचना रचना की मुखापेक्षी ही हो सकती है, और कि रचना और आलोचना एक ही विराट सांस्कृतिक प्रक्रिया के दो अंश हैं। कालान्तर में यह संगठित विधि बदलती चली गई और आलोचना व्यक्ति केन्द्रित हो गई। स्वयं मुक्तिबोध ने किस प्रकार की आलोचना की ओर इशारा किया था, वह बात जुदा हैं। उनकी रचनाओं पर की गई आलोचनाओं का अन्दाज एकदम अलग हो गया, उनकी लिखी एक-एक पंक्ति को 'वैल्यू' मान लिया गया, अन्तिम शब्द मान लिया गया। यह देखने की कोशिश भी नहीं की गई कि मुक्तिबोध ने जो कुछ लिखा—कहां, उसका सोर्स कहीं और भी है क्या? ठीक यही बात उनकी रचनाओं को नकारने वाली आलोचना में भी दिखाई दी। इसके पीछे दलगत या विचारधारात्मक प्रवृत्तियां ज़्यादा काम करती दिखाई दीं, रचना का परीक्षण करने की कम। यही बात कमो-बेश अज्ञेय की रचनाओं की आलोचना में भी दिखाई पड़ती है। इसका एक और स्वरूप दिखाई पड़ता है एक ही लेखक की रचनाओं पर भिन्न-विचारधारा के आलोचकों की आलोचनाओं में। प्रेमचन्द की रचनाओं पर की गई आलोचना इसका सुन्दर उदाहरण है। गांधीवादी, मार्क्सवादी, आदर्शोन्मुख यथार्थवादी, यथार्थवाद की ओर क्रमशः बढ़ने वाला उत्तरोपण मार्क्सवाद और साम्यवाद की ओर झुकने वाला मध्यवर्गीय चेतना का कथाकार; हिन्दूवादी, सूदखोर, महाजनी सभ्यता का विरोधी आदि-आदि न जाने कितनी तरह के विशेषण इस लेखक पर चस्पां किए जाते रहे हैं। प्रेमचन्द की प्रथम जीवनी लिखने वाले मदन गोपाल से लेकर 'प्रेमचन्द साहित्य कोश' के सम्पादक कमल किशोर गोयनका तक प्रेमचन्द की रचनाओं से विभिन्न और परस्पर विरोधी निष्कर्ष निकाले जाते रहे हैं। वस्तुतः हुआ यह है कि प्रत्येक आलोचक ने अपनी दृष्टि के अनुरूप निर्धारित किस्म के निष्कर्ष निकाले हैं; रचना क्या वस्तुगत निष्कर्ष प्रस्तुत करती है, इस ओर ध्यान कम दिया गया है, यानी आलोचना के क्षेत्र में एक प्रकार का 'पोलेमिक्स' काम करता रहा है जो समझदारी और ईमानदारी की आड़ में पल्लवित हुआ है। नामवर आलोचना लिखेंगे तो बीस साल बाद भी एक ही तरह की नामावली की प्रशस्तियां उसमें होंगी, बीस साल पहले के नये प्रतिमान नये ही बने रहेंगे। उनके नियमों-निष्कर्षों में न कोई अन्तर आयेगा और न उनका स्वरूप जुदा होगा। आत्मान्वेषणवादी अज्ञेय अपने आत्मिक जगत से बाहर आकर वस्तुजगत से साक्षात्कार करने से इंकार करते रहेंगे। दूसरे अर्थों में बाड़ों और खेमों का 'पोलेमिक्स' बराबर रहेगा, उनकी अपनी-अपनी भेड़ें और चरागाह रहेंगे।

इससे एक बात तो साफ है कि आज आलोचना का आधार न साहित्य शास्त्र के सूक्ष्म और 'शुद्धतावादी' सिद्धान्त हो सकते हैं, जो साहित्य, साहित्यकार और पाठक को उसके जीवन, परिवेश, समाज से अलग रख देते हैं, और न गुट या खेमे के हितों की रक्षा करने वाले सुविधा के लिए गढ़े गये नियम यानी, जब हम आलोचना के विरुद्ध कुछ भी कहने की हिमाकत करते हैं, तो हमारा सीधा-साधा तात्पर्य उस आलोचना से ही हो सकता है, जो मानवीय सरोकारों से जुदा होती है और या जिस आलोचना का सीमित लक्ष्य चन्द 'रचनाकारों' को अगली पंक्ति में बिठाना भर होता है। वस्तुतः अधिकांश आलोचना या तो टिप्पणी भर बनकर रह जाती है या उसमें आज के जीवन की जटिलता और विषम स्थितियों से साक्षात्कार का अभाव मिलता है। यहां यह प्रश्न किया जा सकता है कि यह कमी आलोचक की है या रचनाकार की? दूसरे अर्थों में समकालीन साहित्य ही इस संस्पर्श से विहीन होकर प्रेरणाहीन तो नहीं बन गया है? कहीं वह 'रचना' की अपेक्षा 'उत्पाद' की श्रेणी में तो नहीं आ गया, और रचना बनाम

आलोचना का तमाम रिश्ता भी कहीं उत्पाद-प्रक्रिया की द्वन्द्वात्मक परिणति तो नहीं बन गया ? इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि अच्छी आलोचना के लिए रचना का सशक्त होना एक अनिवार्य शर्त है। वह पॉजिटिव और नेगेटिव कैसे भी तत्त्व लिए हो सकती है; उसमें प्रतिक्रिया बलपूर्वक निकलवाने की क्षमता होनी चाहिए। लेकिन इसका यह तात्पर्य नहीं मान लेना चाहिए कि रचना अच्छी होगी तभी आलोचना अच्छी लिखी जा सकती है। जिस प्रकार आलोचना मानव-शास्त्रों के संस्पर्शों से विहीन हो सकती है, जिस प्रकार वह प्रचलित, रूढ़िगत या चालू पद्धति पर आधारित हो सकती है, उसी प्रकार रचना में भी ये दोष हो सकते हैं, और होते भी हैं। लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि ऐसी रचनाओं पर की गई आलोचना में भी यह दोष अनिवार्यतः होगा। क्यों न ऐसी रचनाओं को नज़र-अन्दाज़ कर दिया जाए ?

जब हम रचना में मानवीय सरोकारों की बात करते हैं, तो उसमें साहित्य की समाज में नयी भूमिका का आशय निहित है। हमारा समसामयिक संदर्भ इतना जटिल हो चुका है कि उसे मात्र वायवी आधारों या कपोल-कल्पनाओं वाली यूटोपियायी मनःस्थितियों के सहारे नहीं समझा जा सकता। इस बिन्दु पर पहुंचकर इस अवधारणा से सहमत हो पाना भी कठिन लगता है कि साहित्य समाज का दर्पण है या कला मात्र 'वस्तु' का प्रतिबिम्ब है, अथवा अनुकृति है। अपने समयों में ये अवधारणाएं अवश्य सत्य के निकट रही होंगी। सम्प्रति, संकेत समकालीन संदर्भ, परिवेश और मानव-जीवन में उत्पन्न कर दिए गए बुनियादी द्वन्द्वों को समझने की ओर अपने समय से आगे निकलकर नयी दिशाओं की खोज करने का है। सम्भवतः यह सारी प्रक्रिया किसी शून्य से अथवा शताब्दियों पहले गढ़े गये काव्यशास्त्रीय या साहित्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों को आधार बनाकर पूर्ण नहीं की जा सकती। इसके लिए अनिवार्यतः रचनाकार को समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र, इतिहास, अर्थशास्त्र, वाणिज्यशास्त्र, संस्कृति, मूर्त्त और अमूर्त्त कलाओं-पेंटिंग्ज, संगीत, मूर्त्तिकला, स्थापत्यकला आदि क्षेत्रों में प्रवेश करना होता है। यह बात केवल साहित्य—उपन्यास, कहानी, कविता आदि पर ही लागू नहीं होती बल्कि रचना की उन तमाम विधाओं पर लागू होती है, जिन्हें रचनाकार अपने मुख्य हथियार के रूप में इस्तेमाल करता है, जब लुइस मम्फ़ोर्ड जैसा मानवशास्त्री पश्चिम में उगाये गये सीमेण्टी जंगलों, गगनचुम्बी इमारतों पर अपनी टिप्पणियां देता है, तो उसके सामने भवनों के नक्शे ही नहीं होते, बल्कि वे तमाम प्रभाव होते हैं, जो ये भवन मानव-जीवन, परिवेश, प्रकृति पर सम्भावित रूप से डाल सकते हैं। वह यहां तक खोजबीन करता है कि किसी भवन-विशेष के मुख्य-भाग में बनाई गई अस्सी मीटर ऊंची और बीस मीटर चौड़ी शीशे की दीवार भवन के अन्दर काम करने वाले लोगों पर कितना विपरीत प्रभाव डालती है, उससे प्राकृतिक प्रकाश में कितना अवरोध होता है, अन्दर के ताप में कितना अन्तर पड़ता है और उस भवन को वातानुकूलित रखने में कितनी ऊर्जा का क्षय होता है। ज़ाहिर है कि इन प्रभावों का अंकन करते हुए मम्फोर्ड भवन-शिल्प के सीमित दायरे से निकलकर विज्ञान, मानव-शास्त्रों और संस्कृतियों की यात्राओं से गुज़रते हैं।

तब क्या आलोचना से इन यात्राओं की अपेक्षा कोई ज़्यादती लगती है या बेजा मांग ? साहित्य शून्य में से नहीं उपजता। जब ऐसा होता रहा होगा, तब की बात और है। तब मन की कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति ही शायद साहित्य का अकेला स्वर रहा हो। तब साहित्य के सौन्दर्यमान और प्रतिमान अलग किस्म के हो सकते होंगे। लेकिन क्या वास्तव में ऐसा था ?

उपलब्ध साहित्य या कलाओं का इतिहास कुछ और कहानी कहता है। मिस्र की गुफाओं, भारत में मध्यप्रदेश की गुफाओं, पेरू के पर्वत-शिखरों पर खोजे गए भित्ति-चित्र या रेखांकन 'आदि मानव' के जीवन में उत्तरोत्तर बढ़ रही जटिलताओं की ओर संकेत करते हैं। प्राचीन धर्म-पुस्तकों की ऋचाएं और श्लोक मानव के एक निश्चित व्यवस्था और कर्मकाण्ड में बंधे होने की ओर इशारा करते हैं। इन आदि कलाकारों और कवियों ने अपने आस-पास के दबावों को अवश्य अनुभव किया होगा। काव्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि ने उन्हीं बातों के अन्तर्गत सृजन की व्यवस्थाएं की होंगी। नीति, धर्म-व्यवस्था, परम्परा, संस्कृति—सभी आयाम उनके सामने रहे होंगे। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के प्रयोजन महज दो-चार 'आलोचकों' के मन का फितूर नहीं रहा होगा, अपितु इसके लिए सुनिश्चित विचारधारा की कोई परम्परा निर्मित हुई होगी। तब क्या भरतमुनि या दूसरे समय के आलोचक अपने अतीत से आगे नहीं बढ़े होंगे? या उन्होंने अपने समय से बाहर निकलने की प्रवृत्ति को नहीं पहचाना होगा? स्थिति-संकेत अवश्य इस ओर है कि आलोचना की इस परम्परा को पूरी तरह समझकर आगे बढ़ाने की बजाय हमारे आलोचकों ने उस पर 'अन्तिम' होने का ठप्पा लगा दिया या दूसरी 'किस्म' के मानदण्ड आयात कर साहित्य की और साहित्यकार की परीक्षा लेने में जुट गये। परिणामतः विकासन-प्रक्रिया अवरुद्ध हो गई।

बात वर्तमान संदर्भ की थी। जब साहित्य शून्य से उत्पन्न नहीं होता और उसके पीछे दबावों, अनुभवों, ज्ञानों का एक लम्बा सिलसिला होता है, तब उसका मूल्यांकन करने की कसौटी उन दबावों, अनुभवों, ज्ञानों से रहित हो तो मूल्यांकन कैसे किया जा सकता है? आज की रचना उन बुनियादी द्वन्द्वों को पहचानने और समझने की कोशिश है, जो मनुष्य जीवन का अहम अंग बन गये हैं। वे द्वन्द्व राजनीतिक हैं, समाजशास्त्रीय हैं, नृतत्वशास्त्रीय हैं, आर्थिक हैं, नैतिक हैं, अस्तित्व के भय को लेकर हैं, अपने ही से कटाव के हैं, सांस्कृतिक हैं, दार्शनिक हैं, शिल्पात्मक हैं, भावात्मक हैं, और न जाने कितनी तरह के हैं। इन दबावों को जब तक आलोचक समझता और पहचानता नहीं है, तब तक वह अपने दायित्व को पूरी तरह निभा सकेगा, इसमें संदेह है। दरअसल रचना और पाठक के बीच अन्तर पाटने का काम आलोचक का है। साहित्य समाज के हाशिए पर हो सकता है, वह अपने समय से आगे की चीज़ हो सकता है, वह अपने समय से पीछे ले जाने वाला भी हो सकता है, लेकिन वह कैसा है, यह पहचान कराने का काम आलोचक का है। लेकिन वह करायेगा तो तभी, जब स्वयं उसमें सही पहचान होगी और जब तक रचनाकार और आलोचक एक स्तर पर आकर अपनी-अपनी विधाओं की पहचान नहीं कराते, तब तक यह सम्भव नहीं है। तब तक यह और भी सम्भव नहीं है कि आलोचक मानवीय सरोकार से ख़ुद का उतना ही जुड़ाव अनुभव करे, जितना रचनाकार करता है।

लेकिन रचनाकार मानवीय सरोकारों से उतना ही समवाय रखता है, जितना उससे अपेक्षित है, इसे भी शतशः सिद्ध नहीं किया जा सकता। वह भी अपनी मीनारों में कैद हो सकता है। यह समस्या उन समाजों में और भी बड़ी है, जिनमें पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार के साथ आधुनिकता का प्रवेश एक जैसा नहीं हुआ और इसके परिणामस्वरूप जिनमें एक विशेष प्रकार के स्तरीकरण को बल मिला है।अनेक एशियायी और अफ्रीकी देशों से इस तथ्य की पुष्टि की जा सकती है। भारतीय स्थिति भी इससे अलग नहीं है। यह कोई मिथ नहीं है, वास्तविकता है। लेकिन मिथ लगने वाली इस स्थिति की खिलाफ़त की स्थिति भी उत्पन्न हो रही

है। नये मानव की रचना की परिकल्पनाएं करने वाली मानसिकता इस स्थिति से जूझ रही है, और उस वैक्यूम को तोड़ने की कोशिश में लगी नज़र आती है, जो पिछले अनेक वर्षों से ऐसे देशों की साहित्यिक मानसिकता को परिचालित करने की कोशिशों में लगी रही है। ऐसी स्थितियों में निःसन्देह आलोचक से सबल, तटस्थ, उन्मुक्त या समय से आगे निकलने वाली आलोचना की अपेक्षा नहीं की जा सकती लेकिन यह कहकर या मानकर भी सन्तोष करके नहीं बैठा जा सकता। रचनाकार के सामने आज के बहुआयामी संदर्भ हैं, इसमें सन्देह की ज्यादा गुंजायश नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि उसके सामने की और रचनात्मक दबावों के पीछे काम कर रही इन बहुआयामी सदर्भों की आर्गेनिक यूनिटी को समझा जाए और तब आलोचना-कर्म में प्रवृत्त हुआ जाए। तभी रचना के साथ न्याय सम्भव होगा। इसके लिए न केवल रचनाकार और आलोचक की मानसिकता में तालमेल होना अनिवार्य है बल्कि रचना को हर पहलू से आत्मसात करना भी अनिवार्य है। और यह तभी सम्भव है जब आलोचक अपनी 'दृष्टि' की प्रधानता को नकारे और उस संवेदन से साक्षात्कार करे जिससे रचनाकार गुज़र चुका है। इसका तात्पर्य यही नहीं लगा लिया जाना चाहिए कि इससे आलोचना द्वितीय कोटि का साहित्य बन जायेगी। वह रचना पर आश्रित होते हुए भी अपनी शक्ति का परिचय दे जायेगी। तभी रचना और आलोचना रचना-आलोचना-पाठ्य के त्रिकोण का पूरक कोण बन जायेगी। □

आलोचना की वकालत में

□ प्रभाकर श्रोत्रिय

कोई एक हजार साल पहले कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहा था कि यह ग्रंथ काव्य का अंग है और इसके भी वे ही उद्देश्य हैं, जो कविता के हुआ करते हैं। (अस्य ग्रंथस्य काव्यांगतया काव्यफलेरैव फलत्वमिति काव्यफलान्याह)। मैं समझता हूं कि आज भी आलोचक इस बात से इंकार नहीं करता। यदि कविता के लक्ष्य और विधान में बदलाव आया है तो आलोचना की दृष्टि और औजार भी बदले हैं। लेकिन रचना और आलोचना अपनी यात्रा एक तरह से नहीं करती और उनकी परस्परता भी अलग ढंग से निर्धारित होती है। यों कहें कि जो रिश्ते जीवन और साहित्य के हैं, लगभग वे ही रचना और आलोचना के हैं—यानी मूल्य और मूल्यांकन के। कश्मीरी कवि मंखक ने कहा है कि समीक्षा हवा का वह झोंका है जिसके बिना यह नहीं जाना जा सकता कि कोई दीपक मणिदीप है या साधारण दीया है—

नो शक्य एव परिहृत्य दृढ़ां परीक्षां
ज्ञातुं मितस्य महतश्च कवेर्विशेषः।
को नाम तीव्र पवनागममन्तरेण
तत्त्वेन वेत्ति शिखिदीप मणि प्रदीपो ॥

लेकिन नहीं। कई बार रचना की कसौटी पर आलोचना भी परखी जाती है कि वह स्वयं कितनी खरी है। इस स्पर्द्धा के बिना आलोचना में कृत्रिम अनुशासन, तानाशाही और अराजकता पैदा होती है, पुल की बजाए दीवार खड़ी होती है। जब तक आलोचना में यह योग्यता पैदा नहीं होती कि वह रचना का सही और सार्थक मूल्यांकन बन सके, बौनी और घटिया बनी रहती है और तब भी जब वह रचना का अतिमूल्यांकन करती है।

लेखक की नाराजी : प्रेय और श्रेय में से श्रेय को चुनना आलोचना का उत्तरदायित्व है—हालांकि यह तकलीफदेह है। क्योंकि यही मुख्यतः लेखक और आलोचक के बीच अनुकूल या प्रतिकूल सम्बन्ध का कारण रहा है। श्रेय-मार्ग ने भी लेखक की आंखों में आलोचक की मूर्ति क्रूर पुलिसमैन या कड़े परीक्षक की बनाई है और उसकी स्नेहमयी तड़पती आत्मा कहीं गुम हो

गई लगती है। एक सतेज लेखक के भीतर भी आखिर इसका अक्स यही है—

किंतु पुनः पुनः/उन्हीं सीढ़ियों पर नये-नये आलोचक नेत्र, (तेज़ नाक वाले तमतमाये मित्र)/खूब काटछांट और गहरी छीलछाल/रंदों और बसूलों से मेरी देखभाल। मेरा अभिनव संशोधन अविरत/तमतमाया तेज़ नाक वाला रंदों-बसूलों को लिये काट-छांट करता हुआ/कहां है वह आलोचक जो रचना को प्यार करता है, गहरी साझेदारी और सहसंवेदनीयता से भरा होता है।

मुक्तिबोध जैसे कवि तो आलोचक की अपरिहार्यता मानते हैं और लेखक को तराशने में उसकी दीप्ति की ज़रूरत महसूस करते हैं, लेकिन कुछ लेखकों को आलोचक बिल्कुल अप्रासंगिक और फाल्तू दीख पड़ता है। उनकी समझ से—

कवि का/आलोचक से/कुछ ऐसा नाता है/जैसे गंगा एक नदी है/गाय एक
चौपाया है/फिर भी हम सब की माता है।

यह समझ में नहीं आता कि जीवन की आलोचना करने वाले लेखक अपनी अलोचना से इतने क्षुब्ध क्यों हो जाते हैं। एक तर्क स्टीफन सपेंडर का है, जो कवि और आलोचक दोनों हैं। वे कहते हैं कि उत्तेजना लेखक का स्वभाव है, वह हर चीज़ की तरह आलोचना से भी विचलित हो जाता है।

Why writers so sensitive to criticism ? partly
because it is their business to be sensitive, and
they are sensitive about this as about other things.

(A Making of A Poem)

आलोचक का निष्कासन

नयी कविता के दौर में, हिन्दी में आलोचक को निष्कासित करने की एक नयी मुहिम शुरू हुई। शायद इसकी वजह यह थी कि इस समय विकृत मानसिकता पर तीखे हमले होने लगे थे। (हमले पहले भी होते रहे हैं और दुनिया भर के कवि कविता के बचाव में लिखते भी रहे हैं, बाद में कुछ पश्चिमी लेखकों ने आलोचक को एक अनधिकृत व्यक्ति कहना शुरू किया, तब इसी मानसिकता के हिन्दी कवि क्यों चूकते!) कवियों ने आलोचक का उत्तर देने की बजाए उसे ही एक नासमझ बिचोलिया और अवांछित हस्तक्षेप करने वाला मान लिया। कुछ साल पहले हिन्दी रचनाओं का एक संकलन निकला था—'निकष'। निकष-१ की भूमिका में पाठक से **'सीधे संवाद'** की इच्छा प्रकट की गई थी, प्रकारांतर से यह आलोचक की भूमिका समाप्त करने की ही इच्छा थी। सम्पादक कवियों का ख्याल था कि लेखक को **'मनुष्य'** में **'मौलिक विश्वास'** है, इसलिए वह उससे सीधा संवाद कायम करना चाहता है। यह कितनी अजीब बात है कि लेखक का 'मौलिक विश्वास' उस मनुष्य में तो हो जो पाठक के भीतर बैठा है, लेकिन उस मनुष्य में न हो जो आलोचक के भीतर शायद अधिक प्रबुद्धता, ज्ञान-विवेक और विश्लेषण की चेतना सहित बैठा है। जाहिर है कि यह 'मौलिक विश्वास' एक विनम्र शिष्य-वृत्ति के लिए था, समानधर्मी, प्रतिस्पर्धी संवादिता के लिए नहीं—तब तो और भी नहीं जब आलोचना तीखा रुख अख्तियार करे! यह प्रसंग यहां संयोगवश प्रासंगिक हो गया है कि जब मैंने अपनी पुस्तक **'संवाद'** के प्रकाशन-दौर में उन कवियों की प्रतिक्रिया जाननी चाही, जिन पर वे निबंध लिखे गए थे तब एक को छोड़कर सभी कवियों ने—जिनमें अज्ञेय, शमशेर, नरेश मेहता,

कुंवरनारायण, वीरेन्द्र कुमार जैन, हरिनारायण व्यास आदि शामिल थे—अपनी प्रतिक्रियाएं दीं। जिनमें आलोचक से असहमति भी प्रकट की गई थी लेकिन जीवित कवियों में से केवल एक ने इस संवाद में शामिल होने से इंकार कर दिया और वे संयोगवश '**निकष**' के सम्पादकों में से एक थे। योजना के अनुसार सभी प्रतिक्रियाएं उस पुस्तक में हू-ब-हू छपीं। मैं पूछना चाहता हूं कि आलोचना के प्रति लेखक की नाराजी या सहमति का भी संवादहीनता में बदलना क्या उसी भावना का जारी रहना नही है, जिसमें आलोचना मात्र के प्रति उपेक्षा या अवमानना थी।

यह ठीक है कि आलोचक का एक दृष्टिकोण होता है और वह उसकी आलोचना में प्रतिबिंबित भी होता है, लेकिन कोई भी सच्चा आलोचक कभी विरोध गांठ में बांधकर समीक्षा करने नहीं बैठता। वह सबसे पहले कृति का सहृदय-पाठक है। वह कृति को उसके अनुरूप गहराई तक जाकर समझना चाहता है, लेकिन अगर विवेचन और विश्लेषण के दौर में असहमति पल्लवित होती है तो उसे उजागर करना भी उसकी जवाबदारी है। आलोचना कोई अभिनंदन-पत्र नहीं है और जो लेखक उससे यह उम्मीद करेगा उसे तो आलोचना का नीर-क्षीर-विवेक अपने जाती मामलों में हस्तक्षेप की तरह ही लगेगा। मुझे लगता है कि अपनी खामियों या विसंगतियों के प्रति असहिष्णु लेखक से यदि पाठक सचमुच समानस्तर पर खड़े होकर संवाद करने लगे (जिस की उसे चाह है) तो उसकी आंखों में वह भी आलोचक की तरह ही खटकने लगेगा। यहां तक कि वह पाठक को ही इस क्षेत्र से निकाल बाहर करना चाहेगा। पाठक के बारे में एक आधुनिक लेखक के विचार भी जरा जान लें।

> "लेखक अगर पाठक के लिए लिखता है तो निहायत मूर्खतापूर्ण चीज लिखनी होगी।
> गधे को शामी कबाब नहीं खिलाया जा सकता, उसे घास ही खिलानी होगी।"
>
> **—मुद्राराक्षस**

अगर मनुष्य के प्रति 'मौलिक विश्वास' की यही परिणति है तो मुझे कुछ नहीं कहना है, लेकिन अगर यह विश्वास सच्चा है तो सवाल उठता है कि आलोचना के स्तर पर वह क्यों हिल उठता है उसे ऐसा क्यों लगता है कि रचना की अपेक्षा रचना पर टिप्पणी पाठक को अधिक प्रभावित करेगी। रचना यदि 'संवाद' के लिए खुली है तो आलोचक भी उससे संवाद क्यों नहीं कर सकता?

आलोचक को अनुपस्थित कर देने की जो आतुरता बढ़ी है उसका कारण मुझे यह भी लगता है कि अब वह रचना के आस्वादन या गुण-दोष निरूपण, या ध्वनि-अलंकार की खोज तक सीमित नहीं रहा है। वह रचना-प्रक्रिया, प्रेरणा, शब्दों के निहितार्थ तक जाता है। वह व्यक्त के नीचे छिपे अव्यक्त को कुरेदने लगा है, वह रचना के सामाजिक उद्देश्य, यथार्थ की वैज्ञानिकता, कल्पना के औचित्य को लेकर जवाब-तलब करने लगा है, वह भ्रांति, नकल, छद्म और पाखण्ड का पर्दाफाश करने लगा है, उसके औजार ज्यादा वैज्ञानिक, पैने और ठोस होने लगे हैं। मैं समझता हूं कि एक ईमानदार लेखक को, इससे विचलित होने की जरूरत नहीं है क्योंकि जांच का निष्कर्ष बीमारी ही हो यह जरूरी नहीं है, वह स्वस्थता का आश्वासन भी हो सकती है।

प्रकाशित हो जाने के बाद कोई रचना लेखक का निजी मामला नहीं रहती, वह समाज की हो जाती है। इसलिए यह पूछने का कोई औचित्य नहीं है कि किसी को रचना पर अपने विचार प्रकट करने का क्या हक है? ऐसे विचार वास्तव में दंभ-छल और घोर व्यक्तिवादिता से भरे होते हैं। मानवीय विधान की जिस धारा के तहत किसी लेखक को व्यक्ति और समाज की शल्य क्रिया करने का हक मिला हुआ है, उसीने रचना की शल्य-क्रिया का हक आलोचक या

पाठक को दिया है। लेखक की या किसी की नाराजी आलोचक को अपने उत्तरदायित्व और अधिकार से वंचित नहीं कर सकती।

हां, कभी-कभी लेखक की नाराजी जायज लगती है—जब वह देखता है कि उसके अभिप्रायों को छल से घुमाकर या तोड़-मरोड़कर पेश किया जा रहा है, या उसे समझा नहीं जा रहा है या आलोचना पूर्वग्रस्त, संवेदनहीन, दृष्टिहीन या भ्रामक है। लेकिन इसी वजह से आप आलोचना मात्र या आलोचक-मात्र को निष्कासित नहीं कर सकते। क्योंकि इन्हीं वजहों से लेखन या लेखक मात्र को खारिज नहीं किया जा सकता।

लेखक-आलोचक

यहां यह कहना गलत होगा कि आलोचक को पाठक की आड़ लेकर, हटाने के बहाने कुछ स्वयं आलोचकनुमा लेखक उस आसंदी पर बैठना चाहते रहे हैं, ताकि 'परस्परं प्रशंसन्ति' या 'निन्दन्ति' वाला व्यापार चला सकें। अगर आलोचना एक गैरजरूरी काम है तो लेखक ही उसमें क्यों पड़ता है? क्या रचना ही पाठक से सीधे संवाद के लिए काफी नहीं है। एक ओर तो यह कहा जाता है कि 'कविता ही कवि का परम वक्तव्य है' और दूसरी ओर वक्तव्यों की झड़ी लगाई जाती है? मतलब वे जो कविता में कह रहे हैं उसी की पुष्टि खुद कर देना चाहते हैं। 'निज कवित्त' किसको अच्छा नहीं लगता और कौन अपने नाजायज के लिए जायज तर्क नहीं जुटाता?

इसमें शक नहीं है कि कुछ रचनाकार अच्छे आलोचक भी रहे हैं, लेकिन आमतौर पर आलोचना के लिए जरूरी वस्तुनिष्ठता उनमें नहीं होती। रचनाकार जब आलोचक बन बैठता है तो कैसे घपले करता है, इसके प्रमाण मैं 'निकष' से ही देता हूं। उक्त योजना के तहत निकष २-३ में शमशेर को 'सीधे पाठकों से' बातचीत करने को पेश किया गया। उसमें एक जगह आप फर्माते हैं—

> 'कविता में निराला और पंत के बाद कुछ भी नया जिसे कहें, नहीं आया है, सिवाय थोड़ा अज्ञेय के यहां। और जो कुछ नया मालूम होता है, वह या तो अधकचरा है या साहब विलायती बैंगन।

—तो साहब, यह तो बिल्कुल तर्कातीत और तथ्यातीत बात हुई। तमाम कवि और खुद शमशेर क्या बासी हलवा पका रहे थे या विलायती बैंगन? एक सचेत और उत्तरदायी आलोचक ऐसी बेबुनियाद बात इतने साहस के साथ नहीं कह सकता था। प्रयोगवाद के शुरू के दौर में ही अज्ञेय ने क्या निराला को मृत घोषित नहीं कर दिया था। इसके बाद निराला ने कितनी ताकतवर कविताएं लिखीं। जाहिर है कि श्रेष्ठ लेखक भी जब आलोचकीय मुद्रा अपनाता है तो अपनी तलवार की पहली धार समानधर्मा लेखक पर ही परखता है। ऐसे तमाम विचलनों से ढेर सारी जिरहें, प्रतिक्रियाएं, बहसें, साक्षात्कार वगैरह भरे पड़े हैं। रचना के खास सवेगों, रुझानों, आत्मस्थापना की कोशिशों की वजह से कवि के भीतर बैठा आलोचक आलोचक के भीतर बैठे कवि की तुलना में बहुत कम निर्वैयक्तिक हो पाता है।

आलोचना में अराजकता

यहां मैं उन आलोचक यशःप्रार्थियों की अभिसंधि का भी जिक्र करना चाहूंगा जो 'पेशेवर' या 'धन्धई' आलोचना का जुमला उछालने के बहाने आलोचना में उच्छृंखलता की

घुसपैठ कराना चाहते हैं। (समीक्षा के लिए पूरी तरह समर्पित लोग अगर धंधई हैं तो कविता कहानी में जुटे लेखक धंधई क्यों नहीं हैं और वह अगर धंधा है तो ज्यादा लाभ का है।) मेरा विचार है कि ऐसे जुमलों का निशाना पाठ्य पुस्तकीय लेखन या बाजारू नोट्स नहीं हैं। असल में वह आलोचना है जो गंभीर, उत्तरदायी, विश्लेषणपरक और अध्ययनसम्पन्न है, जो परंपरा और समकालीन विवेचना सिद्धांतों से लैस है और प्रामाणिक तौर पर रचना और कथित आलोचना की गिरोहबाजी को चुनौती देने की स्थिति में है। क्योंकि इस तरह के फतवे वे ही लोग देते हैं जो अपनी रीढ़हीनता को ही आलोचना-दर्शन का जामा पहनाते हैं। सिद्धांतहीन, दृष्टिहीन दफ्तरी टीपनुमा और चटखारे लेने वाले फतवों को आलोचना का दर्जा देना चाहते हैं। ये कहना चाहते हैं कि अध्ययन, चिंतन, गम्भीरता, विश्लेषण, परंपरा की समझ समानांतर ज्ञान-क्षेत्रों की यात्रा, तटस्थता और ईमानदारी मूर्खता है। शायद जलसों को पीकर कविता में डिनर करना गैर धंधई और गैर पेशेवर आलोचना हो।

अगर अकादमिक लेखन को धंधई और पेशेवर कहा जाता हो तब भी नोट्स पाठ्य-पुस्तकीय लेखन और अकादमिक लेखन में भेद करने की योग्यता यहां गैरमौजूद है। सच तो यह है कि दुनिया भर में अकादमिक लेखन ने साहित्य चिन्तन की दिशा में नींव का काम किया है। उसे प्रमाणों की रीढ़ पर खड़ा किया है, अन्वेषण के साथ ही परंपरा का पुनरीक्षण किया है वह पूर्व लेखन के प्रामाणिक संदर्भ देती है। जबकि स्वच्छन्द आलोचना प्रायः पूर्व कथनों में थोड़ा-बहुत फेर बदल करके, बिना मूल लेखक का नाम लिये उन्हें अपने कथन की तरह प्रस्तुत करने का नाम है। यहां विदेशी भाषा के जुमलों का मौलिक की तरह रूपांतरण करके अपने बौद्धिक तेज का ढिंढोरा पीटा जाता है। यह एक खूबसूरत डाकेजनी की तरह है। मुझे यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण लगता है कि समूचे अकादमिक लेखन के प्रति जो विकृत माहौल बनाया जा रहा है वह हमारी अगली पीढ़ियों को अपढ़ता और घमंड से भर रहा है। साहित्य में निरंतर संदर्भ-हीनता और पाखंडपूर्ण आत्म-प्रदर्शन बढ़ रहा है। कुल मिलाकर यह प्रवृत्ति आत्मघाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं घटिया अकादमिक लेखन, जड़ वर्गीकरणों और मृत—अवांछित उद्धरणों के इस्तेमाल की वकालत कर रहा हूं। वास्तव में मैं यहां इनकी आड़ लेकर समस्त अकादमिक लेखन के प्रति पैदा की जा रही हीनता का विरोध करना चाहता हूं, ठीक वैसे ही जैसे घटिया कविता, कहानी या अन्य रचनाओं का करता हूं। फिर भी अकादमिक काव्यशास्त्र दफ्तरी काव्यशास्त्र की तुलना में तो बेहतर है ही।

गंभीर लेखक और आलोचना

ऐसा नहीं है कि रचना के क्षेत्र में आलोचना के प्रति हमेशा निषेध ही पनपता रहा हो। संजीदा लेखकों ने पूर्वग्रहरहित ईमानदार और संवेदनशील आलोचना को बराबर मान दिया है। मैंने कई बार यह महसूस किया है। मेरी पुस्तक **संवाद** इसका प्रमाण है जिसमें आलोच्य कवियों की प्रतिक्रियाएं भी छपी हैं, अधिकांश कवियों ने आलोचना से सहमति भी प्रकट की है। एक कथाकार ने अपनी पुस्तक पर मेरी आलोचना को लेकर मुझे लिखा था कि '....पर इतनी भीतरी, इतनी गहराई, सभी पक्षों को ध्यान में रखती समीक्षा शायद और नहीं लिखी जा सकेगी, मुझे भी एक लेखक की हैसियत से ऐसा दर्पण कहां देखने को नसीब होगा—अपने गुण-दोषों का निष्पक्ष ब्योरा। अपनी अन्तिम परिणति में यह समीक्षा, समीक्षा की रचनात्मक ऊर्जा अधिक प्रकाशित करती है।' एक अन्य लेखक ने एक पत्रिका को मेरी आलोचना पर पत्र लिखा

कि 'यह समीक्षा बहुत संतोष देती है। क्योंकि यह संक्रियात्मक है।…आम समीक्षकों की तरह जजमेंट पास नहीं करती, बल्कि एक संभावित (संभावित इसलिए कि कोई एक प्रतिक्रिया रचना को सही ही पकड़े, यह जरूरी नहीं होगा।) लक्षण उठाकर उसकी तह में जाने की कोशिश करती है।—उपन्यास की ढेरों समीक्षाओं में से एक उनकी इस समीक्षा ने उपन्यास-लेखक को संतोष पहुंचाया है।' यहां यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि उक्त दोनों समीक्षाएं प्रशंसा-परक नहीं थीं हालांकि लेखक के सर्जनात्मक संघर्षों में साझीदारी आलोचक ने अवश्य अनुभव की थी। जाहिर है कि एक सही लेखक को सही आलोचना की मितनी दरकार रहती है।

आलोचना-प्रक्रिया

गंभीर आलोचना-कर्म परकाय प्रवेश की तरह जटिल और सूक्ष्म साधना होती है। वह न केवल सजग सेंसर है, संवेदनशील सृजन भी है। आलोचक को ज्ञान, अनुभूति, और प्रेक्षण की सुदूर व्यापक यात्राएं करनी होती हैं। रचनाकार के साथ उसकी खोज यात्राओं में बेहिसाब भटकना भी होता है। आलोचक को ब्योरों, प्रमाणों, बारीकियों और तर्कों के कंटीले रास्ते से चलते हुए महीन काम करना होता है। अपने औजारों को बार-बार परखना और पैनाना भी होता है। शब्द और भाषा के भीतर उतरने वाले आलोचक को अपनी भाषा और अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार जैसा ही संघर्ष करना होता है। आलोचक को जहां एक ओर रचना में निहित संसार की जानकारी हासिल करनी होती है, वहीं रचना के भीतर उसके पुनर्सृजन का भी मूल्यांकन करना होता है, इस तरह उसका काम अधिक परिश्रमपूर्ण और दोहरा होता है। स्रोत और उसकी सर्जनात्मक परिणति के युगपत् साक्षात्कार का काम कितना दूभर और गहरा है, इसे अनुभव द्वारा ही जाना जा सकता है। इतना ही नहीं भीतर-बाहर की तमाम विसंगतियों की पड़ताल करते हुए उसे पाठक और लेखक के लिए विश्वसनीय तथा सृजनपरक विवेचना प्रस्तुत करनी होती है।

यहीं मैं यह भी कहना चाहता हूं कि आज सर्जनात्मक आलोचना के नाम पर रचना का जो अवमूल्यन और अतिमूल्यन किया जा रहा है या प्रभाववादी प्रवृत्तियों को पुनर्जाग्रत किया जा रहा है या सिद्धांतहीन अराजकता पैदा की जा रही है, वह आलोचना को भले ललित गद्य की तरह रोचक बना दे, उसे सही और सार्थक—या कहूं—मानक आलोचना नहीं बना सकती। आलोचना में लालित्य और आकर्षक शैली से मैं इनकार नहीं करता, बल्कि उसे वांछित भी समझता हूं, लेकिन वह आलोचना के नैतिक दायित्व की कीमत पर आए—यह स्वयं आलोचना की सार्थक उपस्थिति के पक्ष में नहीं है। फिर, ऐसी शैली अपनाए बिना आलोचना कोई दूसरे दर्जे की विधा नहीं बन जाती न सृजन से कमतर हो जाती है—भले ही उसकी प्रक्रिया अलग ढंग की हो। आलोचना से अध्यवसाय, चिंतन, विश्लेषण, अन्वेषण आदि निकालकर हम उसे बाजारू बना देंगे और ऐसे लोगों के हाथों में सौंप देंगे, जो उसे खिलवाड़ समझते हैं। आलोचना करते हुए हीन भाव रखने का कोई मतलब नहीं है। जीवन और रचना का युगपत् साक्षात्कार करने वाली मेधा सामान्य नहीं हो सकती। मुझे लगता है कि आलोचना के प्रति गलत दृष्टिकोण ने ही बहुत से सही आलोचकों को आलोचना से विरत कर कविता, कहानी, उपन्यास आदि के लेखन की ओर प्रेरित किया है। मैं नहीं समझता कि एक सही और सार्थक आलोचना बिना सृजन मानस के संभव है। सृजन तो उसमें अंतर्हित है ही। संवेदन और विज्ञान की समन्वित अंतर्दृष्टि के बिना क्या आलोचना संभव हो सकती है? मैं तो कम-से-कम यही मानता हूं कि अगर प्रज्ञा की श्रेष्ठतम परिणति सर्जना है तो उस सर्जनात्मक प्रतिभा की

पहचान को व्यापक जीवन-दर्शन, विवेक बुद्धि के जरिए समर्थ अभिव्यक्ति देना भी उतनी ही बड़ी सर्जना है। अगर जीवन को आधार मानकर लिखी रचना मौलिक रचना हो सकती है, तो रचना को आधार मानकर लिखी आलोचना क्यों मौलिक नहीं हो सकती ?

अपनी सामाजिक-दार्शनिक भूमिका के बावजूद हर प्रकार की गहरी रचना के प्रति संवेदित तटस्थता बनाए रखना आलोचक के लिए बहुत तनावपूर्ण काम है। लोगों ने मुझसे अक्सर पूछा है कि कोई आलोचक विभिन्न विचारों, रचना-प्रकृतियों और युगों के लेखकों पर एक जैसी तन्मयता से कैसे लिख सकता है ? और हर जगह अपने मूल्यांकन का औचित्य कैसे साबित कर सकता है ? और अगर सब जगह वह सराहना और असहमति के बीच एक संतुलन बनाए रख सकता है तो उसके अपने वैचारिक और सामाजिक दर्शन का निजत्व कैसे बरकरार रह सकता है। इस बारे में मुझे कहना है कि जैसे सुन्दरता और कुरूपता की एक सामान्य अव-धारणा होती है—बावजूद इसके कि सब जगह भिन्नता और विशिष्टता भी होती है, उसी तरह विभिन्न दृष्टि और शैली के बावजूद रचना के सौन्दर्य और असुन्दरता की एक सामान्य अव-धारणा है। इसी अवधारणा के साथ आलोचक अपना काम शुरू करता है। निश्चय ही इसका प्रस्थान सृजन-शिल्प के सौंदर्य से होता है। इसके बाद वह रचनाकार के युग परिप्रेक्ष्य, उसकी वास्तविक प्रेरणा, सामाजिक-दार्शनिक दृष्टि आदि के भीतर उतरता है। सर्जनात्मक संवेदन के साथ दूर तक जाने के कारण आलोचक के सामने रचना की खूबियां ही नहीं, उसकी खामियां, अंतर्विरोध और दृष्टि की संगतियां-विसंगतियां स्पष्ट होने लगती हैं, वह अपनी टिप्पणी देता है। आलोचक का दृष्टिकोण और रचना सम्बन्धी मंतव्य इन्हीं टिप्पणियों के जरिए प्रकट होते हैं। इन्हें नजरअंदाज करने या पकड़ न पाने की वजह से लोगों को लगता है कि जैसे आलोचक केवल रचना के प्रवाह में ही बह रहा है, वह केवल 'एप्रिशिएट' ही करता है। कोई भी सचेत और गंभीर आलोचक जब विभिन्न कवियों या युगों पर लिखता है तो एक ओर तो समावेशी चिंतन के कारण वह नितान्त एकपक्षीय नहीं हो पाता, दूसरी ओर हर आलोचना में उसके स्पर्श उसे एक अलग आयाम देते हैं। प्राचीन काल से आलोचक मानते रहे हैं कि 'गिरा के अनेक मार्ग हैं' (अनेकस्य गिरा मार्गाः) 'प्रतीयमान अर्थ निस्सीम होते हैं' (निस्सीमार्थ सार्थः) 'वाग्वि-कल्प अनंत हैं' (अनंता हि वाग्विकल्पः) इसलिए आलोचना किसी नियत परिपाटी को लेकर, उसी में बंधी नहीं रह सकती—अगर वह सृजन का सम्मान करना जानती हो। अच्छी रचना का सम्मान करना अच्छी आलोचना का एक जरूरी लक्षण है। स्पष्ट और दो-टूक नतीजे निकालने का अर्थ कहीं-न-कहीं रचना को हीन भाव से देखना है और जैसे हम रचना द्वारा आलोचना को निम्न कोटि का समझने को अनुचित मानते हैं, वैसे ही आलोचना के इस रवैये को भी उचित नहीं ठहरा सकते। असल में जैसा मैंने पहले भी कहा है, आलोचना, रचना के साथ लंबी यात्रा करते हुए अपनी वैचारिक कसौटी पर जहां रचना को कसती है, वहीं वह रचना की कसौटी पर अपने खरेपन की जांच भी करती है, इसी तरह आलोचना के मानदंड विकसित होते हैं। अपने निर्धारित मानों के विपरीत लेखन पर हमेशा संदेह करना, जाहिर करता है कि लेखकीय ईमानदारी का एक ही ढर्रा होता है। औचित्यपूर्ण लचीलेपन की वजह से ही आलोचना में अपार रचना-संसार को जांचने की शक्ति आती है और रूढ़ एकांतिकता नहीं पनपने पाती वरना वही होता है, जैसा आय० ए० रिचर्ड्स ने कहा है कि—लोग स्विनबर्ग की कविता पर हार्डी की कविता को जांचते हैं और उसे वैसे ही दोषपूर्ण साबित करते हैं, जैसे कोई कुत्ते को दोषपूर्ण बिल्ली कहे—इसलिए मानकों की सामान्यता को भी विशिष्ट संदर्भ और शैली में

इस्तेमाल करना आलोचना के लिए जरूरी होता है।

श्रेष्ठ का मूल्यांकन

कुछ लेखक जब आलोचक की त्रुटियां रेखांकित करते हुए उसे प्रसंगहीन बताते हैं तो भूल जाते हैं कि न तो कोई आलोचक पूर्ण होता है, न उसकी हर आलोचना श्रेष्ठ होती है—जैसा कि लेखन और लेखक के मामले में भी होता है। लेखक की तरह आलोचक भी 'ग्रो' करता है, संशोधन करता है और आलोचना के दौर में कई अंतर्बाह्य दबावों से गुजरता है। कई बार भटकता भी है। यही सोचकर आलोचक को भी फैसले देने से बचने की कोशिश करनी होती है, दूसरी ओर इसी वजह से हम उम्मीद करते हैं कि आलोचना या आलोचक की श्रेष्ठ उपलब्धियों के आधार पर ही मूल्यांकन किया जाए जैसी कि रचना के बारे में अपेक्षा की जाती है।

आलोचना में नवीनता और परम्परा

नित्य नूतनता आलोचना के लिए भी कम महत्त्व नहीं रखती। जिस तरह कवि का काम घिसी हुई भाषा, चुके हुए संवेदन, पुरानी अनुभव-प्रणाली से नहीं चल सकता उसी तरह आलोचक का काम भी बासी प्रतिमानों, पुराने विवेक पर आधारित विश्लेषणों, पिछड़े हुए संवेदनों और कुंठित भाषा से नहीं चल सकता। उसे नवीन युग की आवश्यकता के अनुरूप अपने प्रतिमान गढ़ने पड़ते हैं, पुराने प्रतिमानों पर धार करनी होती है और उन्हें नया सृजनार्थ देना होता है ताकि वह अपने समय और रचना का सही साझीदार और पाठक का विश्वस्त सहचर हो सके। अगर रचनाकार अपने समय की चुनौतियां झेलता है तो आलोचक भी। अगर रचना अपनी रूढ़ियां तोड़ती है तो आलोचना भी। नयी दृष्टि दोनों को अवांछित अतीत के संहार की निर्ममता देती है—और जो जड़ता के कायल हैं, वे न सिर्फ आलोचना में हैं, रचना में भी हैं। उन्हें छोड़कर दोनों आगे बढ़ जाती हैं। इतना जरूर है कि आलोचना पर कविता की तुलना में उत्तराधिकार का दबाव प्रत्यक्षतः अधिक होता है। क्योंकि अतीत के अध्ययन-चिंतन का लाभ उठाते हुए, वह अपनी नवीन मान्यताओं और मानकों का विकास करती है। परंपरा की अत्यंत गहरी और सूक्ष्म पहचानों से सम्पन्न आलोचक को आधुनिकता के लिए बेहिसाब संघर्ष करना होता है। रचनाकारों पर भी परंपरा का दबाव होता है। लेकिन उसकी भूमिका कई जगह इतनी अदृश्य होती है कि लेखक उसे पहचान नहीं पाता। तभी शायद कुछ रचनाकारों को अपना हर कुछ नया और परंपरा से कटा हुआ प्रतीत होता है। उन्हें अपने वरिष्ठ कवि से ही पूछना चाहिए, जिनका कहना है कि उनमें 'नया कुछ नहीं है।' और उन्होंने नयों के नाम पर जो छायावादी कवि गिनाए हैं, उन्होंने और उनके समकालीनों ने अपनी अधिकांश विवेचन-क्षमता यह प्रमाणित करने में लगाई है कि परंपरा में उनकी जड़ें बहुत गहरी हैं। बहरहाल, रचना को भले परंपरा की प्रतीति न हो, वह अनाहूत, अनायास और अदृश्य रूप से उसमें समाहित हो जाती है। लेकिन आलोचक को तो इस अज्ञान का सुख भी नहीं मिलता। इसलिए लेखक को तब नागवार गुजरता है जब आलोचक रचना को परंपरा के संदर्भ में परखने की (जरा भी) कोशिश करता है।

आलोचना में रचना की तरह कोई चोर रास्ता नहीं होता, उसकी प्रक्रिया खुली और प्रमाण-सापेक्ष्य होती है। इसलिए बचाव की उसके पास कोई गुंजाइश नहीं होती। इस दृष्टि से लेखन में वह सबसे साहसपूर्ण विधा है। किन्हीं मामलों में व्यंग्य से भी अधिक। क्योंकि वह जिस पर आक्रमण करती है, वह उसका आनंद नहीं ले सकता। उसे हर वक्त धार पर चलना होता है। शायद इसीलिए हर युग में आलोचना को रचना के मुकाबले अधिक आक्रमण झेलना पड़ता है। □

टिप्पणियां

आलोचना है कहां ?

□ 'अज्ञेय'

कोई लेखक होकर आलोचना का विरोधी हो कैसे सकता है, यह प्रश्न पूछा जा सकता है। फिर ऐसा लेखक, जो स्वयं जब-तब आलोचना कर्म में प्रवृत्त होता रहा है, कैसे आलोचना का विरोध कर सकता है?

सवाल असल में आलोचना के विरोध का नहीं है, सवाल यह है कि जिस चीज का विरोध केवल लेखक के नाते ही नहीं, पाठक के नाते भी बार-बार हमारे मन में उमड़ता है, वह आलोचना है भी? दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि क्योंकि हम आलोचना के विरोधी नहीं, आलोचना के समर्थक है, इसीलिए यह प्रश्न बार-बार उठाते हैं कि हमें आज आलोचना के नाम पर जो दिया जा रहा है वह क्या इस नाम के योग्य है भी? फिर जिस धातु से आलोचना शब्द बना है वह प्रकाश से, प्रकाश में लाने से, प्रकाशित करके पहचान के योग्य बनाने से सम्बन्ध रखती है। मगर आलोचना के नाम पर आज हमें जो दिया जा रहा है उसका अधिकांश पहचान बनाने वाला नहीं, पहचान बिगाड़ने या बिलकुल ही मिटाने वाला होता है। और ऐसा आलोचक की किसी कमी के कारण हो जाता हो ऐसा भी नहीं है; आलोचक की नीयत में खोट के कारण ही ऐसा होता है। क्या चीज़ कैसी है, उसको पहचानने के लिए पाठक के सद्सद्-विवेक को खुले प्रकाश में चीज़ को देखने का अवसर मिले, यह आलोचक का उद्देश्य नहीं होता। उसका सबसे पहला प्रयत्न यह होता है कि पाठक की आंखों पर अपनी पसन्द के गहरे रंग का मोटा चश्मा चढ़ा दे जिससे कि पाठक को और कुछ नहीं दीखे।

इतना ही नहीं, आज के तथाकथित आलोचक प्रायः प्रकट या अप्रकट अभिसन्धि से गुट बना कर काम करते हैं। अमुक रचना अथवा अमुक लेखक के बारे में क्या अथवा कैसी राय प्रचारित करनी है, यह पहले तय होता है; और इसके लिए रचना पढ़ना भी ज़रूरी नहीं होता। यह राय बना लेने के बाद और उसके बारे में लिखित अथवा अलिखित समझौता हो गये होने के बाद यह देख लिया जा सकता है कि रचना में से ऐसे कौन से उद्धरण निकाल लिये जा सकते हैं जिनसे वह मत पुष्ट हो। ऐसे कुछ वाक्य रचना में मिल जायें तो क्या कहना—बात

'प्रमाण-पुष्ट' हो जाती है, भले ही जो वाक्य चुने जायें वे लेखक का आशय प्रस्तुत करने वाले न हों, केवल किसी चरित्र की कोई उक्ति हों। और अगर आलोचित पुस्तक में ऐसे कोई सन्दर्भ नहीं मिलते तो भी कोई बात नहीं; लेखक ने पहले या अन्यत्र भी तो कुछ लिखा होगा जो काम आ सकता है ! आखिर किसी रचना की आलोचना केवल उसी रचना तक सीमित थोड़े ही होती है, लेखक के पूरे रचना-सन्दर्भ बल्कि पूरे जीवन-सन्दर्भ को ध्यान में रखती है।

एक तरफ प्रत्यक्ष रूप से गुटबन्द आलोचना है जिसकी गुटबन्दी का आधार राजनीति है और जो उसे गुटबन्दी न कहकर 'प्रतिबद्धता' कहती है—एक संकीर्णता न मानकर एक मूल्य बना देती है; दूसरी तरफ ऐसे भी गुट हैं जिनकी गुटबन्दी का आधार केवल अपने को सामने लाने का आग्रह है, अपने को सामने लाने के लिए बल का संचय है। ऐसी गुटबन्दी प्रतिबद्धता के वृत्त के भीतर भी काम कर सकती है, उसके समानान्तर भी चल सकती है। राजनीतिक प्रतिबद्धता और इस तरह की गुटबन्दी में कोई बुनियादी विरोध नहीं है। आखिर आज की सारी राजनीति भी तो एक मतवाद के भीतर कई तरह की छोटी-बड़ी प्रतिबद्धताओं को लेकर चल रही है।

एक तीसरा मोटा काला चश्मा अध्यापक का आलोचक है। कहने को यह अपने को 'शास्त्रीय आलोचक' कहता है। लेकिन वह स्वयं भी जानता है कि उसकी आलोचना की तासीर उसकी शास्त्रीयता में नहीं, बल्कि इस बात में है कि वह विश्वविद्यालय का अध्यापक है और किसी ऐसे पद पर बैठा है जिस पर से वह पाठ्यपुस्तकों के चयन को प्रभावित कर सकता है। और आज इस वर्ग के आलोचक के प्रति पाठक की श्रद्धा चाहे बिलकुल न हो, कोई प्रकाशक तो उसकी उपेक्षा कर ही नहीं सकता—और तब फिर लेखक भी उसकी अवहेलना कैसे कर सकता है ? और इस वर्ग के युवतर सदस्य का अहंकार तो पद से मिलने वाले समर्थन की सीमाएं भी लांघ जाता है। आप लेखक हैं तो क्या हुआ ? आप क्या जानते हैं ? आप क्या पी-एच० डी० हैं, डी० लिट् हैं ? नहीं हैं तो इन डिग्री वालों के सामने चुप रहिए। आप कुछ नहीं जानते और उनके पास जानकारी के प्रमाण-रूप ये डिग्रियां हैं। आप पुराने आचार्यों का हवाला देना चाहते हैं ? क्या बचकानी बातें करते हैं ! वे रहे होंगे आचार्य, लेकिन पी-एच० डी०, डी० लिट्० तो नहीं थे। इससे भी क्या कि उन्होंने ही ऐसे कुछ नये अध्यापक-आलोचकों को पढ़ाया, या कि उन्हीं के ग्रंथों पर शोध करके इन्हें डॉक्टरेटें मिलीं। यह तो होता ही है। सिर्फ़ ज्ञान तो काफ़ी नहीं होता—आधुनिक पद्धति की जानकारी के बिना वह कुछ नहीं है। नहीं तो कल आप गांव से ऐसे पंडित उठा लायेंगे जिन्होंने मूल ग्रन्थ पढ़े हैं और उन्हें बराबर खड़े कर देना चाहेंगे।

नहीं, मैं आलोचना के विरुद्ध नहीं हूँ, लेकिन आलोचना आज है कहां ? और जो है उसके तमस्तोम के बीच यही अच्छा है कि पाठक के विवेक को ही अपनी आस्था का आधार बनाया जाय। पाठक के विवेक में—या बहुत ही हताश स्वर में भी कहूं तो पाठक के विवेक की सम्भावना में—आस्था बनाये रखकर ही तो मैं लिखता हूं और अपने लेखन को सर्जनात्मक लेखन मानता हूं। यह बिलकुल सम्भव है कि पाठक को बेवकूफ समझा जाय और बनाया जाय। मैं जानता हूं कि अनेक लेखक ऐसा करते हैं। यह भी देखता हूं कि नयी, चिकनी, रंगीन पत्रकारिता की सारी प्रवृत्ति भी इस ओर है और जिस लेखक ने अपनी सफलता का आधार इसी पत्रकारिता को बनाया है वह उधर ही जायेगा और अपनी सफलता पर अपनी पीठ भी ठोकेगा। और ऐसी पत्रकारिता बड़ी आसानी से रचनाशील लेखक की उपेक्षा भी करती चली जा सकती

है—या कि उपेक्षा को भी अपनी उदारता मान सकती है क्योंकि वह अधिक क्रियाशील होकर वैसे लेखक को मटियामेट भी तो कर दे सकती है !

लेखकों में थोड़े से हठी, रचनाधर्मी जरूर बचे रह जायेंगे—'हठी रचनाधर्मी' कहिए या उनकी रचनाधर्मिता को ही निरी हठधर्मी कह लीजिए। वैसे ही आलोचना जगत में भी इने-गिने लोग बच जायेंगे जो इस तमस्तोभ में अपना छोटा-सा दीप लिये आग्रह करते रह जायेंगे कि 'लुच्' धातु का अर्थ होता है प्रकाशित करना—वे रचना को प्रकाश में लाने के प्रयत्न में लगे रह जायेंगे। आज भी ऐसे लोग हैं; आज भी जब-तब जहां-तहां से आलोचना का ऐसा नया पत्र निकल जाता है, दो-चार अंक निकालकर ही चाहे उसकी ज्योति चुक जाय। ऐसा हर प्रयत्न एक **एक्ट आफ़ फ़ेथ** होता है, एक अग्निपरीक्षा होती है, एक यज्ञाहुति होती है। ऐसी आहुति देते रहने वाले सभी हमारे प्रणम्य हैं।

लेकिन मैं आलोचना का विरोधी नहीं हूं। पूछना यह चाहता हूं कि आलोचना है कहां ?

□

गढ़े खोदो और भरो

□ मृदुला गर्ग

"···कहानी स्वयं एक प्रक्रिया है। ऐसी प्रक्रिया जिससे होकर लिखते समय लेखक गुज़रता है तो पढ़ते समय पाठक।···" (नामवर सिंह, कहानी-नयी कहानी)

बात समझ में आती है। पर इस प्रक्रिया के बीच आलोचक महोदय क्यों टपक पड़ते हैं, यही समझ में नहीं आता।

यूं तो पूंजीवादी व्यवस्था की विशिष्टता है कि हर आदान-प्रदान, क्रय-विक्रय, लेन-देन में बिचौलिये जरूर रहते हैं। उगाने वाला किसान है, बनाने वाला मजदूर और मशीन और इस्तेमाल करने वाला उपभोक्ता पर बीच में बेचने वाले एक नहीं अनेक हैं; आढ़तिया और परचूनिया ही नहीं, विज्ञापनदाता भी। उसी प्रकार लेखक और पाठक के बीच प्रकाशक और पुस्तक विक्रेता ही नहीं, एक शै आलोचक भी है, जो लेखक को तो लिखने से नहीं रोक सकता (वैसे कोशिश भरपूर करता है) पर पाठक को पढ़ने से गुमराह ज़रूर कर सकता है।

बेचारा आलोचक ! सब उसे कोसते रहते हैं। इसलिए मैं उसके समर्थन में कुछ कहना चाहूंगी। पहली बात यह कि अगर कोई आदमी दूसरों के लिखे पर टीका-टिप्पणी करके अपनी रोज़ी-रोटी चला ले तो पूंजीवादी व्यवस्था को इससे लाभ ही होगा, हानि नहीं। भारत की घनघोर बेरोज़गारी के वातावरण में जो भी रोज़गार मिले, अपना लेना चाहिए। यह तो आप

जानते ही होंगे कि प्रख्यात अर्थशास्त्र शिरोमणि केन्ज़ कह गए हैं कि व्यवस्था को और कुछ न सूझे तो पूंजिवादी अर्थतंत्र को बचाए रखने के लिए गढ़े खोदे और भर दे। दुबारा खोदे और फिर भर दे। इस तरह लोगों को काम और पैसा मिलता रहेगा और वे उपभोक्ता की तरह बाज़ार में 'मांग' लेकर आते रहेंगे। 'मांग' होगी तो उत्पादन भी होगा। असली चीज़ है 'मांग'। किसके लिए है, इससे हमें कुछ लेना-देना नहीं है। हमारे आलोचकों ने केन्ज़ की इस सूक्ति को खूब कंठस्थ कर रखा है। एक गढ़ा खोदता है, दूसरा भर देता है। नयी ज़मीन मिल गई (यानी नये कहानी-उपन्यास आते रहे) तो बहुत खूब वरना पटे-पटाये गढ़े को ही तीसरा खोद लेता है और चौथा भर देता है। बल्कि इस तरह काम हल्का रहता है, ज़मीन पोली जो होती है। यही कारण है कि आलोचक अब तक प्रेमचन्द को ही खोद-भर कर अपनी रोज़ी चला रहे हैं।

एक सज्जन से मिलना हुआ। अमरीका के किसी विश्वविद्यालय में समकालीन भारतीय साहित्य पढ़ाते हैं। एक पुस्तक भी लिखी है, समकालीन हिन्दी साहित्य पर। साहित्य अकादेमी में उसकी धुआंधार प्रशंसा सुनी तो पता चला कि इसमें अंतिम उपन्यास जो उन्होंने लिया है, वह १९७० में छपा था। सुनकर आश्वस्त हुए। चलो, मर गए तो कम से कम समकालीनों में तो आ ही जाएंगे।

दूसरी बात आलोचकों के समर्थन में यह कहना चाहती हूं कि उनकी बदौलत कम-से-कम कुछ लेखकों को पुरस्कार वगैरह मिलते रहते हैं। इससे सरकार और लेखक वर्ग, दोनों की वाहवाही होती है, दूरदर्शन पर एक कार्यक्रम और बढ़ जाता है और कुछ लेखकों की ही सही, आर्थिक स्थिति में भी सुधार आ जाता है। स्वीडन के एक सज्जन मिले थे, नोबेल पुरस्कार समिति से सम्बन्ध रखते हैं। कहने लगे कि वे तो वही पढ़ेंगे जिसे हमारे आलोचक बढ़िया बतलाएंगे और इसलिए इस नतीजे पर पहुंचने पर विवश हैं कि यह बढ़िया काफी घटिया है, पश्चिम में पुरस्कार पाने के अयोग्य। एक-दो अपवादों को छोड़ कर, जो लेखक-आलोचक दोनों स्वयं हैं। पर पश्चिम के भरोसे कितने लेखक जी सकते हैं। इतने सारे ठेठ देशज पुरस्कार हैं, जहां निर्णायक आलोचकों का मत लेकर चलते हैं। बल्कि आलोचक मौजूद हों तो उन्हें ही निर्णायक बना दिया जाता है। सुविधा रहती है। आलोचक भी सरकारी ओहदे पर और पुरस्कार देने वाली संस्था भी सरकारी। और जो लेखक पर भी सरकार का वरद् हस्त हो तो सोने में सुहागा। विरही कवि विद्रोही कवि बन जाता है। माओ साहब ज़रा चूक गए। कहां साहब क्रान्ति, बन्दूक की नली में है, क्यों न कहें शराब की बूंद में है या सत्ता के केन्द्र में।

खैर छोड़िये, हमारी आप भला क्यों सुनेंगे। हम ठहरे ठेठ लेखक, वह भी देसी और बिना खूंटे से बंधे। एक प्रकाशक ने तो साफ़ कह दिया था, आपकी किताब हम क्यों छापें, आप हैं किस काम के? विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में पुस्तक नहीं लगवा सकते, सरकारी खरीद में नहीं डलवा सकते, और तो और, किसी आलोचक को पटाकर पुरस्कार तक नहीं हथिया सकते; पढ़ते होंगे आपको पाठक; हम अपनी प्रगति को पाठकों के भरोसे छोड़ दें तो रह लिये प्रगतिशील! तो हमारी छोड़िये, लु शुन की सुनिये। उन्होंने कहा था, "आलोचकों से मैं यह उम्मीद करने का साहस नहीं कर सकता कि वे किसी दूसरे की रचना या किसी खास विषय पर पाठकों तक अपनी राय पहुंचाने से पहले, खुद अपना विश्लेषण करेंगे या अपने बारे में राय कायम करेंगे कि कहीं खुद किसी स्तर पर वे सतही, घटिया या गलती पर तो नहीं है। ऐसी अपेक्षा करना ज़्यादती होगी। मैं सिर्फ़ इतनी उम्मीद करूंगा कि चीज़ों का विश्लेषण करते समय वे सामान्य ज्ञान बरतेंगे।" लु शुन का साबका हमारे आलोचकों से नहीं पड़ा वरना यह न कहते। एक

बानगी देखिए;

"चूंकि मैं···के स्नेह का छोटा-मोटा भाजन भी हूं। कुछ···के कारण और कुछ उनके निश्छल स्नेह और बहुआयामी लेखन के प्रति अपने आदर के चलते। इसलिए मुझे इस उपन्यास पर चर्चा करने के लिए अपने आपको बार-बार उस सम्पूर्ण आत्मीयता से अलग करने का प्रयास करना पड़ता है और साहस भी संजोना पड़ता है···" (गिरिराज किशोर, पूर्वग्रह ४६-४७)

कितनी जोखिम उठानी पड़ती है आलोचक को और लु शुन साहब हैं कि फरमाते हैं, "लिखते समय मेरी चाहे कैसी भी आलोचना क्यों न की जाती थी, मैंने कभी उसपर कान नहीं दिया।···आपकी तारीफ़ के पुल बांधकर यदि वे आपको आकाश तक न उठा लेते तो आपकी गर्दन काटकर ही संतोष करते। यदि आपने उनकी बातों पर ध्यान दिया तो या तो आप अपने को असाधारण प्रतिभावान मान बैठते अथवा अपने अपराधों की लम्बी तालिका के फलस्वरूप आत्महत्या कर बैठते।"

भारत में कम ही लेखक आत्महत्या कर रहे हैं। इसलिए लगता है कि अधिकतर लेखक आलोचना नहीं पढ़ते। जो पढ़ते हैं और अपने को असाधारण प्रतिभावान मान बैठते हैं, वे या तो महत्त्वपूर्ण पत्रिकाओं के सम्पादक होते हैं या सरकारी अफसर या फिर किन्हीं कारणों से आलोचकों के स्नेह-भाजन या आत्मीय। मगर लेखक न भी पढ़े तो क्या हुआ, मैं नहीं समझती आलोचक वाकई चाहते होंगे कि वे आत्महत्या करके अपनी संख्या घटायें, वे तो उनकी रोज़ी-रोटी के साधन हैं। या वह जमीन हैं जिस पर गढ़े खोद-खोदकर आलोचक पाटते रहते हैं और सरकार देख-देखकर खुश होती है और उन्हें और बड़े गढ़े खोदने के लिए प्रोत्साहित करने के लिए ओहदे बख्शती है।

□

आलोचना नहीं, समकालीन आलोचना के विरुद्ध

□ गोविन्द मिश्र

भावनात्मक ऊर्जा जब लेखक के निजी आलोचनात्मक संयम में बंधती है तब वह रचना बनती है। दूसरे शब्दों में हर लेखक के भीतर एक प्रामाणिक आलोचक बैठा होता है जो उसके लेखकीय विकास के साथ-साथ विकास पाता रहता है। अपने इस आलोचक को संस्कार देते रहने के लिए लेखक बाहर आलोचकों की तरफ़ भी ताकता है···।

फिर कोई लेखक आलोचना के विरुद्ध कैसे हो सकता है?

बावजूद इसके, समकालीन हिन्दी आलोचनात्मक लेखन का अधिकांश मेरे गले के नीचे नहीं उतरता। यह मेरी व्यक्तिगत रुचि/अरुचि, शिक्षा/अशिक्षा, सभ्यता/असभ्यता की वजह से है···ऐसा कहकर छुट्टी पाई जा सकती है, लेकिन अगर अधिकांश लेखक समकालीन

आलोचना के प्रति उदासीन हों तो फिर…?

इस बात को मैं अपने बीस वर्षों से ऊपर के व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह सकता हूं कि ज्यादातर हिन्दी लेखक कुंठाग्रस्त होते हैं। यह कुंठा मूलतः अंग्रेजी और उन सुविधाओं के दबाव से उत्पन्न होती है जिसे हिन्दी लेखक देखता है कि दूसरे वर्गों को उपलब्ध हैं पर उसे नहीं मिली हुईं। बाहर से नकारते हुए भी हर तीसरा हिन्दी लेखक अफसर, इंजीनियर, डॉक्टर की सुविधाओं, उनके समृद्धि-संयम…अंग्रेजी पत्रकारों की पहुच जैसी चीज़ों से ईर्ष्या करता होता है। यह हिन्दी लेखक की दीनता ही कहिये कि वह स्वयं को भारत की ऋषि-परम्परा से जोड़कर नहीं देख पाता। पिछले दिनों साहित्य में मार्क्सवाद जैसी विचारधाराएं, जो 'ठोस' पर बल देती रही हैं, उससे भी ऋषि-परम्परा जैसी बातें वायवी हो गयीं, सुख-सुविधा की वस्तुओं का संचय महत्त्वपूर्ण हो गया। हिन्दी लेखक में उस तरह का जातीय उत्साह भी नहीं पनप पाता जो किसी क्षेत्रीय भाषा के लेखक में हो सकता है। क्योंकि वहां भाषा का प्रश्न सांस्कृतिक अस्मिता को बनाये रखने के प्रश्न से जुड़ा हुआ है…इसलिए उस भाषा में लेखन स्वतः एक रचनात्मक उत्साह लिये होता है। हिन्दी में चूंकि कुंठा का उन्नयन नहीं हो पाता इसलिए एक तरफ़ भयंकर हीन-भावना, ग्रन्थियां और दूसरी तरफ़ प्रतिष्ठित लेखकों में घोर अहंवाद, अहंकार जैसी चीजें दिखाई देती हैं। हमारे यहां लेखक प्रतिष्ठित तो हो जाते हैं पर फिर उस बिन्दु से आगे…बड़े साहित्य की तरफ़ नहीं उठ पाते…क्योंकि स्वयं से मुक्त नहीं हो पाते। कम का व्यक्तित्व सरल और विनम्र रह पाता है…और नहीं तो उन्हें यही कष्ट सालता रहता है कि उन्हें कृतित्व के अनुरूप प्रतिष्ठा नहीं मिली, प्रतिष्ठा के अनुरूप समाज में सम्मान नहीं मिलता…

हिन्दी आलोचक इन सारी कुंठाओं से तो लिपटा होता ही है, ऊपर से एक और कुंठा आ चिपकती है उससे—यह कि वह एक असफल साहित्यकार है। फलतः आलोचक बदले की भावना से पीड़ित हो नकारवाद का रास्ता अपनाता है। 'रविवार' में जब मैंने एक के बाद एक किताबों की धुनाई देखी तो सम्पादक-भाइयों से शंका की कि जब पुस्तकों में रत्ती भर भी प्रशंसनीय नहीं था तो समालोचक महोदय अपना समय और सम्पादक महोदय अपनी पत्रिका के कीमती दो पृष्ठ क्यों बरवाद करते रहे खामखाह…! नकारवाद पर बाहर से मुलम्मे चढ़ाये जायेंगे। कोई कहेगा कि लेखक में राजनैतिक समझ नहीं है (पार्टी का सदस्य हो जाये तो समझ आ जायेगी!) तो एक ऐसे ही हवा में छोड़ देगा कि हिन्दी कहानी व्यावसायिक हो गयी है। न वह बतायेगा कि समझ से क्या तात्पर्य है और न यह स्पष्ट करेगा कि व्यावसायिक आखिर है क्या…चूंकि न ईमानदारी है और न नैतिक साहस तो इसीलिए नाम लेने से बचा जायेगा…और 'अभी नहीं, कभी जमकर…' जैसी सूक्तियां छोड़कर गायब हो लिया जायेगा। अगर चन्द्रकांत बांदिवडेकर, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, डॉ० परमानंद श्रीवास्तव जैसे आलोचक हर पुस्तक की अच्छी बातों को प्रकाश में लाते दिखेंगे तो उन्हें ही दृष्टिहीन करार दिया जायेगा। स्वस्थ आलोचना एक विशेष युग में लेखन की दिशा रेखांकित करने के साथ-साथ लेखन के लिए उत्साह भी निर्मित करती चलती है। आज जिस लेखक को ही दिशा या उत्साह पाना है, वह अपने भीतर से ही…बाहर से उसे बहुत कम मिलने वाला है।

जब डॉ० रामचन्द्र शुक्ल को 'लेखक' न होने की कुंठा नहीं सालती थी, गुलेरी जी को

अपनी पांडुलिपियां आलोचकों से सुधरवाने में संकोच नहीं होता था'''अब वह समय नहीं है। आलोचक से अपेक्षा होती है कि वह लेखक से बहुत ज्यादा खुला और बड़ा होगा'''लेकिन वह निरंतर छोटा होता चला गया'''लेखक से भी ज्यादा छोटा हो गया। इसके जो कुप्रभाव रचनात्मक लेखन पर पड़े हैं वे साफ दिखाई देते हैं। यहां सिर्फ तीन की तरफ़ इशारा कर देता हूं—

(१) यह भ्रम फैलाया गया है कि कम लिखना गुण है। इससे इंकार नहीं कि लेखन स्तरीय हो'''मैं तो यहां तक कहता हूं कि एक रचना के संदर्भ में मैं जब तक अपनी सीमाएं न लांघ जाऊं तब तक उसे पूरा न समझूं'''लेकिन कोई बताये कि स्तर तक पहुंचने का रास्ता लिखने'''निरन्तर लिखने के अलावा कौन सा है? क्या यह सही नहीं कि हर युग में हर भाषा के अधिकांश बड़े लेखक वे ही हैं जो स्तर और संख्या दोनों दृष्टियों से बड़े थे? कम लिखने का भ्रम फैलाकर और ज्यादा लिखने वाले को 'व्यावसायिक' करार देकर क्या एक आलोचक अपनी ही निष्क्रियता पर पर्दा नहीं डाल रहा? यह कैसे हुआ कि नयी कहानी और बाद के कथाकारों का दम दो छुटके उपन्यास लिखकर ही उखड़ता दिखाई देता है?

(२) आधुनिकता और प्रगतिवाद का जो मिक्सचर अपने गैरसाहित्यिक स्वार्थों के लिए प्रचारित किया गया'''उसमें संवेदनशीलता, साहित्य का भाव-पक्ष, जीवन का सौन्दर्य पक्ष, आदर्श-पक्ष, मूल्यों की बात'' यह सब दुर्गुण थे'''हेय। क्या वजह है कि कबीर, तुलसी सूर आज भी लोगों का सम्बल बनते हैं, क्या उनका समय तकलीफ का नहीं था? क्या कुछ भी अच्छा नहीं है जीवन में''? उस शहर में जहां इमारतें ही इमारतें हों''या रेगिस्तान में'''पेड़ों के नीचे खड़े होकर लोग साफ हवा को पीते दिखाई देंगे'''वही स्थिति दुष्कर समय में साहित्य की है'''पर हम साहित्य को भी दूसरी चीजों की तरह एक गन्दी चीज बनाते जा रहे हैं। गत वर्ष कलकत्ता कथा समारोह के अवसर पर मैं मदर टैरेसा के दर्शन करने गया। उन्होंने मुझसे कहा—हमेशा तकलीफों पर ही मत लिखते रहो, जीवन में कितना ऐसा है जो अच्छा है, सुन्दर है'''वह हमें शक्ति देता है। पाठकों को वह दो''अब मदर टैरेसा से ज्यादा तकलीफें तो आपने नहीं देखीं और उनके निदान के लिए भी भाषण देने के अलावा कुछ किया नहीं'''और आप जब चिल्लाते हो कि लेखन ऐसा हो कि पर्दाफाश करे, संघर्ष की प्रेरणा दे''तो अगर मैं आपको आलोचक नहीं एक राजनैतिक कार्यकर्ता मान लेता हूं, कहता हूं कि आप सिर्फ एक मत का प्रचार कर रहे हैं, साहित्य से सरोकार आपका है नहीं'''तो क्या ज्यादती करता हूं साहब?

(३) भारत जैसे पुरानी संस्कृति वाले देश का कोई लेखक अपनी परम्परा और संस्कृति से बगैर जुड़े हुए बड़ा लेखन नहीं कर सकता। कुछ आलोचकों ने हमारी परम्परा, धर्म और संस्कृति''सभी को प्रतिक्रियावादी, जनसंघी आदि करार देकर, लेखक के कानों में यही मूलमंत्र फूंकना चाहा कि आधुनिकता तो विदेशी का पर्याय है''या रूस की तरफ चलो या योरुप की तरफ। महाभारत और उपनिषद् तो धर्मग्रन्थ हैं'''धर्मान्धता लायेंगे।

अच्छा है कि धुन्ध अब छंट रही है। नये लेखकों के सामने आलोचकों के संकुचित चरित्र और मुट्ठी-भर लेखन दोनों हैं'''अब कोई आलोचक के इस झांसे में नहीं आता कि मैं इस पर फिर कभी कहूंगा, इस पर जमकर लिखना है'''आदि-आदि। नये लेखकों के सामने ऐसी कई मिसालें भी हैं जहां प्रतिभाएं बगैर किसी आचार्यप्रवर की वरदहस्तीय कृपा के भी आगे आयीं। वे अब जान रहे हैं कि लेखन में **'शार्टकट'** नहीं होता, लिखने का विकल्प है नहीं। □

व्यंग्य

हिन्दी साहित्य में आलोचना की अन्त्येष्टि

□ रवीन्द्रनाथ त्यागी

किसी भी भाषा के साहित्य के विकास के लिए यह आवश्यक है कि एक या दो अदद आलोचक सीन पर जरूर मौजूद रहें। हंस की गैर हाजिरी में नीर-क्षीर विवेक कभी नहीं हो सकता। संस्कृत के शास्त्रकारों ने तो एकदम स्पष्ट भाषा में कहा है कि आलोचक का होना जरूरी है, क्योंकि कवि अपनी रचना के दोष स्वयं कभी नहीं देख सकता। वह तो अपनी रचना का पिता है, वह भला अपनी कन्या का आनन्द खुद कैसे उठा सकता है? रचना के गुण-दोष विवेचन के लिए दामाद का होना जरूरी है और वह कार्य केवल आलोचक ही कर सकता है। 'कविः करोति काव्यानि पंडितो वेत्ति तद्रसम्; कामिनी कुचकाठिन्यं पतिर्जानाति नो पिता।' इतना स्पष्ट करने के उपरांत संस्कृत के आचार्यों ने यह भी स्वीकार किया कि अच्छे शालीन कुलवाले कुत्ते की भांति निष्पक्ष आलोचक का मिलना भी सदा से कठिन ही होता आया।

संस्कृत के एक और आचार्य हैं, जो आलोचक की तुलना कुत्ते से नहीं, परंतु उल्लू से करते हैं। उनका कहना है, उल्लू और आलोचक के बीच यह निश्चय करना कठिन है कि इनमें कौन श्रेष्ठ है। जिस प्रकार उल्लू को अंधेरा ही अंधेरा नजर आता है, वैसे ही आलोचक जो है, वह रचना के दोष ही दोष पकड़ता है। एक और पशु प्रेमी आचार्य हैं, जो आलोचक की तुलना ऊंट से करते हैं, क्योंकि ऊंट जो है, वह परम सुंदर कदलीवन में जाकर भी कांटों की ही खोज करता है, फलों की नहीं। राजशेखर कहते हैं कि यद्यपि आलोचक प्रायः दुष्ट और द्वेषी होते हैं, पर फिर भी उनका रहना जरूरी है। श्रेष्ठ आलोचक की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि वह निष्पक्ष हो, काफ़ी कवियों की वाणी पढ़ चुका हो, मन से रसिक हो और सबसे बड़ी बात यह है कि वह स्वयं काव्य करने में असमर्थ हो। अंतिम गुण जो है, वह काफ़ी काबिले गौर है। एक और शास्त्रकार हैं, जिनके अनुसार चरित्रवती युवती और निष्पक्ष आलोचक इस संसार में मिलने कठिन हैं। जिस प्रकार सच्चा प्रेम करने वाली हसीन लड़की अपने परिवार वालों से नहीं डरती, उसी प्रकार सच्चे कलाकार को उचित है कि वह रचना करता जाये और आलोचक की तरफ़ ध्यान ही न दे। सबसे बड़ा समीक्षक तो काल है, जिसकी चर्चा भवभूति ने की है। मल्लिनाथ ने कालिदास तक के लिए लिखा है···'भारती कालिदासस्य दुर्व्याख्या विष मूर्च्छिता।'

अब अगर कालिदास तक के साथ व्याख्याकारों ने पूरी ईमानदारी नहीं बरती तो मेरा और आपका तो कहना ही क्या !

बाकी विधाओं की भांति हिंदी समालोचना का प्रारम्भ भी भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में हुआ। बदरी नारायन जी चौधरी ने यह धंधा शुरू किया, जिसे बाद में चलकर मिश्रबंधु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दर दास बी०ए० और रामचंद्र शुक्ल ने विकसित किया। मिश्र बंधुओं ने हिंदी साहित्य का इतिहास मात्र अपने मनोरंजन के लिए लिखा और इसी कारण पोथी का नाम 'मिश्र बंधु विनोद' रखा गया। अकबर के नौ रत्नों की भांति इन्होंने भी 'हिंदी नवरत्न' नामक ग्रंथ लिखा, जो अभी तक मील का पत्थर है। पद्मसिंह शर्मा सारी उम्र इसी बात को कहते रहे कि बिहारी जो है, वह देव से बड़ा है। आलोचना में कव्वाली का मजा देने वाले ये प्रथम व्यक्ति थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की निरंकुशता' की रचना की, जिसे दुर्भाग्यवश कवि कालिदास नहीं पढ़ सके। रामचंद्र शुक्ल इतने ईमानदार थे कि उन्होने अपने इतिहास में सबल सिंह चौहान, बेताल, आलम, लालकवि, सूदन, बोधा, सम्मन, ठाकुर और पजनेस जैसे कवियों की भी चर्चा की, जिन्हें शायद उनके समकालीन भी नहीं जानते थे। आलम जो थे, वे ब्राह्मण थे, पर उन्होंने शेख नामक रंगरेजिन से प्रेम किया और इतनी तत्परता से किया कि इसी संदर्भ में वे मुसलमान भी हो गये। इन पुराने आलोचकों के बाद नयी पीढ़ी आई, जिसमें नंद दुलारे बाजपेयी, प्रकाशचन्द्र गुप्त और रामविलास शर्मा इत्यादि शामिल थे। इन लोगों में से अन्तिम नाम के अलावा सबने इस असार संसार को छोड़ दिया। इसके बाद कोई तगड़ा आलोचक नहीं रहा। लोग गुटबंदी करने लगे और प्रयाग के पंडों ने तो आलोचना की अन्त्येष्टि ही कर दी।

फ़िलहाल स्थिति यह है कि हिंदी में एक के बाद एक नयी प्रतिभा लेखक या लेखिका का रूप धारण करके अपनी शानदार कृतियों के साथ प्रकट हो रही है, पर आलोचक हैं कि अपनी चुप्पी ही नहीं तोड़ते। पहले तो कोई सर्वगुण सम्पन्न आलोचक ही नहीं है, जिसके निर्णय को सब लोग विश्वास के साथ स्वीकार कर सकें और जो कुछ बचते हैं, वे इतने ईमानदार नहीं हैं कि श्रेष्ठ ग्रंथ की भी सही आलोचना कर सकें। वे तो सिर्फ़ अपने गुट की तारीफ़ करेंगे और बाकी के बारे में या तो मौन धारण कर लेंगे या फिर कुछ ऐसी बात करेंगे कि वह गरीब लेखक जो अभी नया है और अपने को जमाने के हथकंडे नहीं जानता, वह हमेशा के लिए अपना लिखना बंद कर देगा। चश्मा लगाने वाले ये तथाकथित आलोचक— जो इतने गिरे हुए हैं कि उनका और गिरना मुश्किल है—यह विश्वास रखते हैं कि बिना इनके सिगनल दिए आपकी गाड़ी आगे जा ही नहीं सकती। ये वे लोग हैं जो समझते हैं कि कनुप्रिया जो है वह इनके बाप की जायदाद है और इनके गुट के बाहर जो कुछ है वह अंधा युग है। विनोद चन्द्र पांडेय, मणि मधुकर, अमृता भारती, जगदीश चतुर्वेदी और रवीन्द्रनाथ त्यागी कितनी ही अच्छी कविता लिख लें और उसे पढ़कर इन्हें कितना भी सुख प्राप्त हो जाए, ये लोग उनके बारे में अपने होंठों को बन्द रखेंगे और इनके स्नाब गुट का कोई व्यक्ति कठोपनिषद् का हिन्दी में मात्र पद्यानुवाद ही कर दे तब भी उसकी कृति की तुलना कामायनी से करेंगे जिसे कम-से-कम मैं तो कविता की पुस्तक ही स्वीकार नहीं करता। (एक दिन आएगा और जल्दी ही आएगा जब लोग मैथिलीशरण गुप्त और जयशंकर प्रसाद को कवि मानने से ही मना कर देंगे।)

इस संदर्भ में एक रोचक घटना का विवरण प्रस्तुत करना असंगत न होगा। दिल्ली में एक साहित्यिक संस्था थी 'भारती'। इसकी गोष्ठियों में अज्ञेय जैसे महान् लेखक और मेरे जैसे

नये लेखक—सब शामिल थे। इसकी एक गोष्ठी में मैंने एक लम्बी कविता पढ़ी, जिसकी अज्ञेय तक ने प्रशंसा की। शमशेर बहादुर सिंह का नम्बर आया तो उन्होंने कुछ ऐसा कहा कि यह समझना कठिन था कि वे प्रशंसा कर रहे थे या कि कविता की कमियां बता रहे थे। बड़ी घुमावदार और शास्त्रों के समान पल्ले न पड़ने वाली निरर्थक भाषा। खैर, बात यहीं ख़त्म हो जाती तो भी गनीमत थी। सभा की समाप्ति के बाद शमशेर जी मुझे एक तरफ़ ले जाकर कहने लगे कि मेरी कविता बहुत उम्दा थी। अरे भाई, अगर कविता अच्छी थी तो सबके सामने तारीफ़ करने से क्या आपकी इज्जत जाती थी?

ऊपर लिखे विवरण के कुछ अपवाद भी हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर यदि आप सिनेमा के कलाकार हैं तो आपकी चर्चा होगी और कस कर होगी। सारी स्नाबरी एक तरफ़ और दीप्ति नवल की कविता एक तरफ़। वैसे कविताएं काफ़ी अच्छी हैं, पर यदि दीप्ति नवल सिनेमा की कलाकार न होतीं तो उनकी चर्चा तक नहीं होती। यही बात मीना कुमारी की शायरी के बारे में कही जा सकती है। दीप्ति नवल के कविता संग्रह की चर्चा हिंदी की सभी पत्रिकाओं ने की और कुछ ने तो पूरा एक पेज दिया। अब आप ही बताइए कि इस माहौल में नये लेखक का भविष्य क्या है? जाहिर है कि वह पहले दिलीप कुमार या राजकपूर बने और बाद में साहित्य की सृष्टि करे।

सारी परेशानियों के बाद मैं फिर भी नयी प्रतिभाओं से कहना चाहूंगा कि वे बस लिखते रहें, लिखते रहें। खुदा का शुक्र है कि चीज अगर अच्छी है और जानदार है तो इन चश्माधारी समीक्षकों के बावजूद अपनी जगह बना लेगी और यथा समय इतिहास में शामिल होगी। कोई शक्ति ऐसी नहीं है जो इस प्रकिया को रोक सके। आलोचक रूपधारी इन गधों को पता नहीं कि सुबह जरूर होती है, चाहे मुर्गा बोले या न बोले। निबंध में आक्रोश आ जाने के लिए मैं क्षमा-प्रार्थना करता हूं। यह आक्रोश में अपने लिए नहीं कर रहा, बल्कि उन सारे नये लेखकों की तरफ़ से कर रहा हूं, जो नये हैं, बढ़िया लिख रहे हैं, मगर जिन्हें कोई ऐसा भारतेन्दु नहीं मिलता जो उन्हें शाबाशी दे सके, ईमानदारी से उनकी कमियां बताये और फिर उन्हें आगे लाने में मदद करे। आपको यदि कहीं भारतेन्दु या उनकी नस्ल की कोई विभूति मिले तो मुझे जरूर खबर करना।

अन्त में चलकर मैं असली मुद्दे पर आता हूं। कहना सिर्फ़ इतना है कि व्यंग्य और कविता तो मैंने इतनी लिख ली, जो आलोचकों के बाद भी सीन पर मौजूद रहेगी और इस कारण अब जो समय बचा है, उसे मैं आलोचक के रूप में बिताना चाहता हूं। मैं सोचता हूं कि अब इस विधा का पूर्ण रूप से व्यवसायीकरण हो जाना चाहिए। एक ऐसा ब्यूरो खुलना चाहिए, जो गोगिया पाशा के जादूघर या जैमिनी के सर्कस का मजा दे। आलोचना के लिए पुस्तकें आयेंगी और आलोचना छपेगी। पुस्तक के साथ लेखक को चेक भेजना पड़ेगा और जो जितना बड़ा चेक भेजेगा, उसकी उतनी ही लम्बी और उम्दा आलोचना छपेगी। नये लेखकों को अलबत्ता पूरी रियायत दूंगा और इसके बदले में वे मेरे लिए आयी हुई पुस्तकों की समीक्षा मुफ्त लिखेंगे। मेरा अपना अखबार होगा, ताकि तबीयत के साथ ब्लैकमेल किया जा सके। अखबार का प्रथम लक्ष्य यही होगा कि लेखकों को बता सकूं कि या तो इतनी मुद्रा दो या फिर मैं पर्दाफ़ाश करता हूं। आलोचना का पुस्तक से कोई संबंध नहीं होगा, क्योंकि वह तो सिर्फ़ चेक की राशि, लेखिका के सौंदर्य और बढ़िया होटलों में दिये गये डिनर वगैरह दीगर चीजों पर आधारित होगी। गुटबंदी का प्रश्न ही नहीं उठता। मेरे इस 'हिन्दी रिव्यू ब्यूरो' का शानदार

दफ्तर होगा, हसीन रिसेप्शनिस्ट होगी, और प्रतीक्षा कक्ष में चमड़े के सोफ़े होंगे। प्रकाशकों के यहां जितना भी चमड़ा काम में लाया जाता है, वह गरीब लेखकों का होता है। जैसा बाकी प्रकाशक करते हैं, वैसा ही मैं भी करूंगा।

आलोचना करते हुए मैं इस बात का भी ध्यान रखूंगा कि कटु आलोचना के कारण टामस हार्डी ने अपना लिखना हमेशा के लिए बंद कर दिया था और आलोचना के ही कारण अंग्रेजी के कवि चैस्टर्टन ने आत्महत्या कर ली थी।

□ [सारिका से साभार]

निवेदन

- □ प्रकाशित रचनाओं पर उपयुक्त पारिश्रमिक देने की व्यवस्था है।
- □ जम्मू-कश्मीर में कला, संस्कृति और साहित्य के आकलन और उसके विकास को रेखांकित करने वाली सामग्री को शीराजा में वरीयता दी जाती है।
- □ रचनाएं कागज के एक ओर सुवाच्य अक्षरों में लिखकर अथवा टाईप करवा कर भेजें। कॉर्बन-कॉपी पर विचार नहीं किया जाता है।
- □ स्वीकृत अथवा विचाराधीन रचनाओं की सूचना यथासमय भेज दी जाती है। अस्वीकृत रचनाओं को लेकर किसी प्रकार का पत्राचार अपेक्षित नहीं है।
- □ 'पुस्तकें और पुस्तकें' स्तम्भ के अन्तर्गत समीक्षा के लिए पुस्तक की दो प्रतियां भेजना आवश्यक है।

—सम्पादक

हस्तक्षेप का व्याकरण

□ डॉ० रतनलाल शांत

१. जयशंकर प्रसाद ने जब 'आंसू' का दूसरा संस्करण संशोधन के बाद प्रकाशित कराया या 'निराला' ने जब अपनी कविताओं के बाद के संस्करण संशोधित किए तो आलोचकों ने हल्ला किया कि लेखक या तो सामाजिक अनुकूलता की रौ में वह गया है या खुद को आभिजातों के वर्ग में बिठाने को लालायित है यानी कि वह अपने आत्म के प्रति तथाकथित लेखकीय ईमानदारी निभा नहीं पाया है। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि यदि स्वयं को अपने भी टेस्टों से गुजरने न देना भी ईमानदारी की कसौटी है, तो अधिकांश लेखक बेईमान करार दिए जा सकते हैं।

अपने टेस्टों का न कोई समय निश्चित होता है न स्थान। वे लेखक के व्यक्तित्व के संघटन के समांतर सक्रिय रहते हैं और कौन कह सकता है कि लेखक नैसर्गिकता के नशे से इतन निस्संज्ञ हो जाता है कि अपनी भी रचना-प्रक्रिया के दबाव नहीं महसूसता ?

रचना-प्रक्रिया ही आत्म-परीक्षाओं की एक सिलसिलेवार छन्नी है जिसे इनकारने या जिसके प्रति अचेत रहने से उसका अस्तित्व इंकारा नहीं जा सकता।

मनोविश्लेषक तथा मनोविश्लेषणवादी आलोचक रचना-प्रक्रिया की आकस्मिकता और अनायासत्व पर कितना भी जोर दें पर रचना चूंकि कला भी है (बहस पुरानी है, बहरहाल कलात्व छाया रहा है और रचना की संपूर्णता में महत्त्वपूर्ण रहा है) इसलिए सायासत्व अब रचना की शर्त बन गई है। रचना भर करके ही आज के रचयिता की इति नहीं, खुद को और संप्रेषित करने की जरूरत उससे लिखने के अलावा बुलवाती है, गढ़ने या घड़ने के अलावा लिखवाती है और नाचने या गाने के अलावा शब्द उकेरवाती है। वह खुद भी चूंकि एक गठीली जीवन-चिन्तन-प्रेक्षण-आस्वादन-प्रवृत्ति का परिणाम होता है इसलिए उसकी रचना भी गठीली होती है। वह निरन्तर अपूर्व आंतरिक तथा बाह्य टकराहटों को अनुभव करता चलता है, इस लिए उसकी रचना इन उद्वेलनों की धड़कन लिये होती है। वह कला के उपकरणों का सर्वोत्तम प्रयोग करने की क्षमता रखता है इसलिए उसके भावक इन उपकरणों की ठोकपीट के चिह्न खोजते हैं। भावक की उपस्थिति उसे प्रिय हो कि अप्रिय, उससे इनकारी नहीं की जा सकती। आलोचक की एक ृश्य या अदृश्य छाया उस पर मंडराती है और वह खुद-ब-खुद आत्म-

परीक्षाओं के क्रम में पड़ता रहता है। सहजता के अर्थ संज्ञाशून्यता के नहीं।

२. दूरदर्शन के लिए मैं एक नाटक लिख रहा था। (मतलब यह नहीं कि अपने लिए नहीं लिख रहा था।) एक अध्यापक एक छात्र में जरूरत से ज्यादा दिलचस्पी लेता था। उसके लिए छात्र वृत्ति जुटवाई, उसे पुस्तकें मुफ्त दिलवाईं, अपने विषय में उसे काफी प्रवीण कर दिया, आदतन। लड़का उत्तर स्नातक कक्षा में ज्ञान की वृद्धि के लिए गया—उस प्यास को बुझाने के लिए, जो अध्यापक ने जगाई थी। पर घर की स्थिति अनुकूल नहीं थी। काफी बूढ़े बाप, भाई-बहनों की भरमार, एक भाई बटमार, दूसरा सिनेमा ब्लैकर, एक बहन किसी के साथ भागी, दूसरी डोरे डालने में व्यस्त, मां अन्धी और वह विद्यार्जन पर बजिद। परिणाम दिमागी संतुलन खो बैठा। अध्यापक के घर पहले की तरह आता रहा और उसकी पत्नी तथा बच्चों के लिए समस्या पैदा की। अध्यापक क्या करे? मार भगाए पागल को, जो आसान तरीका है। या स्थिति की जिम्मेदारी खुद पर ले? उसे कुछ करना होगा, स्थिति का प्रेत पानी मांगता है, नहीं तो भूचाल बरपा कर देगा। नाटक को प्रभावशाली बनाने के लिए फैंटेसी का सहारा लेकर अनिवार्य की ध्वनि निकाली जा सकती है, या अध्यापक की टूटन की अंतरंगता को अभिव्यक्ति दी जा सकती है कि दर्शक का मन भारी हो जाए। और भारी अंत वाली 'खेल' हिट होती है। आलोचना के कई जीवित-मृत पारस्परिक प्रेतों ने कई दिनों लगातार साला। 'प्रेत' नाम से 'मारबिडिटी' की बू आती है (शीर्षक पर बहस सर्वप्रथम स्थान लेती है) 'घेरे' में 'घेराव' की ध्वनि आती है जिसे प्रोत्साहन देना (मतलब इस शब्द के प्रयोग की गुंजाइश रखना) हमारी राष्ट्रीय नीति नहीं, इसलिए 'घेरों से बाहर' हो या 'अन्दर' दोनों समान हानिकारक हैं। 'दायरे' ठीक हैं, बेचार हार्मलेस ज्यामितिक आकार। कोई बात नहीं कि नाम 'दायरों से बाहर' छोड़कर 'दायरे तोड़कर' या 'दायरे फलांग कर' भी हो—दर्शक जब तक कागज पर बने वृत्त के ऊपर से उचककर उछलने की तुक समझने लगें, तब तक नाटक का कथ्य उनके दिमाग से भी उचककर बाहर जा चुका होगा। और भी अच्छा है!

बाहरी आलोचनात्मक दबाव प्रेत हो सकते हैं बल्कि आपको सुविधा हो, तो उन्हें वैम्पायर कह सकते हैं, पर भीतर का आलोचक? उसने अहम् जगाया। ठीक है यह धारा के विरुद्ध जाना होगा, इसमें किसी विचार की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ सकती है मगर है यह सही कनविक्शन का प्रश्न। अध्यापक उस 'फ्रैंकस्टाइन' को स्वीकार करेगा और उसे पुनर्मानवीकृत करेगा। यह प्रक्रिया पर्दे से बाद की है मगर पर्दे पर इसकी प्रतिबद्धता का संकेत उभरना चाहिए। 'चाहिए' में आत्मनिर्देशन की अनुगूंज थी। 'चाहिए' एक लगातार विकासमान प्रक्रिया (या परिवर्तनशील क्रिया-प्रतिक्रिया ही कहें) की परिणति है, जिसका रूपाकार पठन-मनन, परिवेश-प्रेक्षण में उभरता है। 'चाहिए' साभिप्राय सक्रिय हस्तक्षेप का द्योतक है जो रचना का शील निर्धारित करता है। 'नहीं चाहिए' इसीका दूसरा संस्करण है।

३. नरेन्द्र कोहली ने कहीं लिखा है कि वे तब पढ़ते हैं जब लिखते हुए बीच में सुस्ताना चाहते हों और इसी प्रकार पढ़ते हुए लिखते हैं। अर्थात् अपने भीतर उभरते आलोचक की संभाव्य ज्यादतियों से खुद को मुक्त रखने की संभावना में रचनाशील रहते हैं। नयी कविता के प्रतिपादक दार्शनिक व्याख्या-गुरुओं ने अनुभावन की क्रिया को अभिव्यक्ति के समय अक्षुण्ण बनाए रखने पर जोर दिया जिसकी एक अति प्रपद्यवाद थी। पर साथ ही वे बहुत सावधान रहे कि कविता में कहीं वही न आ जाए जिसके विरोध में वह खड़ी है। 'जन' आया पर 'जनता' को पास फटकने नहीं दिया गया। बल्कि अपनी सुविधा के लिए 'जन' को जनता

से अलग कर दिया गया तथा इस शब्द की गरिमा पर भाष्य रचे गए। जनता को अमूर्त तथा जन को संवेदनशील इकाई कहकर महिमामंडित किया गया। अर्थात् एक शासन-अनुशासन के विरोध में दूसरे प्रकार का स्वैरशासन रचा गया और जब स्वैरी, अकविता के आत्मपीड़क एकांत रोदन में जाकर ध्वनित हुआ तो हाहाकार मच उठा।

४. हस्तक्षेप से कोई विस्तार नहीं, चाहे रचना को स्वायत्त सिद्धांत से ही परिचालित कहा जाए। स्वयं-भू कवि से आशा थी कि कुमार का संभव ही नहीं दिखाए बल्कि स्थिति को उसके तर्कसंगत परिणाम तक भी पहुंचाए। पर उसने खुद अपना अंकुश खुद पर लगाया। उससे यह आशा नहीं थी कि नायक केवल ब्रह्म पुरुष हो बल्कि ब्रह्म सुलभ चरित्र का स्वामी भी हो। मगर उसने चारुदत्त को वसन्त सेना के वेश्याजाल में डाल ही दिया। लेखक के अपने अस्तित्व, अपने तर्कविकसित व्यक्तित्व या अपनी परिवेश-पोषित अभिवृत्तियों की सीमाएं तथा विस्तार उसके कथ्य को संगति का बल देते हैं। यह ठीक है कि कथ्य के भीतर उसकी अपनी भी विशिष्ट गति होती है जो उसे अभिव्यक्ति तथा अन्वेषण में सहायता देती है। ऐसे में उसे समझने के लिए उसकी गति तथा यति के व्याकरण का ही अनुसरण होना चाहिए। मगर कृति जिस मंथन का परिणाम होती है उसके नियन्ता आखिरकार उन बाह्य तत्त्वों में मौजूद होते हैं, जिनसे जीवन का आउट लाइन उभरता है। और जीवन की परिसीमा इतनी विस्तृत है कि उसके भीतर स्वायत्तता की गुहार लगाता हुआ हर स्वतंत्र एकांश व्यापकत्व तथा पूर्णत्व की पूर्ति से अनुकूलित हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे में स्वायत्तत्व तथा निरपेक्ष स्वातंत्र्य की बात दम्भ लग सकती है।

५. हस्तक्षेप के स्वरूप की चर्चा से अब छुटकारा नहीं, क्योंकि उसे हम चाहे-अनचाहे जाने-अनजाने होने देते हैं। और इस हस्तक्षेप की शर्त है जिन्दगी को हमारी शर्तों पर नहीं बल्कि इसकी शर्तों पर समझना और समझाना। इस बात पर दो राय नहीं हो सकती कि जिन्दगी की शर्त है इसे जीवंतता देना, इसे बनाए रखना। इसके मूलों को संजीवनी देना। इसे न समझने या उपेक्षित करने का उपक्रम कृत्रिम होगा क्योंकि तथाकथित मृत्यून्मुखता केवल कागज पर उतारा गया निर्वीर्य क्रोध या नाराजगी ही हो सकती है। जीवित रहने की कामना जबकि स्पष्टीकरण नहीं मांगती, न्यायसंगति के लिए प्रमाण नहीं चाहती, मृत्युकामना समझाने के लिए दर्शन को कई नये वाद, मार्ग, सम्प्रदाय और विधियां उकेरनी पड़ीं। दूसरे महायुद्ध से ध्वस्त योरूपीय जीवन को देखकर जो उबकाई एक फ्रांसीसी लेखक को आई, या मानव-प्रयत्न की निरर्थकता से उत्पन्न क्षोभ से अंग्रेजी लेखक ने मानव को जो खोखला बिजूखा बताया, वह कुछ देर के लिए दर्शन का आद्यमंत्र बन गया। इधर साहित्यकार के भारतीय, अफ्रीकी और लातीनी अमरीकी अनुभव विशेष ने भी वही जामा पहना और अपनी हीनग्रन्थि को छिपाने के लिए उसे और गठियाने के प्रयत्न हुए। यहां तो मृत्यु का अपना सस्ता संस्करण था, जो बेकारी और बीमारी की जिल्दों में सुलभ था और यहां सरल पलायन ही मृत्यु की आकर्षक अभियान-वृत्ति थी। यहां, जिनको जीवन का एक घूंट नहीं मिलता उनके मुंह बाए सवाल का जवाब मृत्युकामना की चौंका देने वाली अपूर्व कथा संवेदना लेखक के लिए आत्मछल के सिवा क्या हो सकती है? आत्म और अनात्म के बीच का संतुलन ऐसे में लेखकीय चेतना की विधि बन जाता है। यह चेतन उपक्रम कदम-कदम पर रचना में हस्तक्षेप करेगा जिसकी प्रेरणा सचेतस् में भी होगी। □

काव्य-समीक्षा और पुरोवाकीय विश्वसनीयता

□ डॉ० राजकुमार

काव्य-संकलनों में पुरोवाक् अर्थात वक्तव्य देने के रिवाज़ ने विशेषकर 'तार सप्तक' के प्रकाशन से बल पकड़ा है। पुरोवाक् का उद्देश्य तो काव्य-प्रेषण की भूमि तैयार करना है परन्तु आज के अधिकतर इन पुरोवाक्यों ने पाठक को दिशा भ्रमित ही किया है। कारण यह है कि पाठक रचना के अन्त:सूत्रों को पकड़ने की अपेक्षा कवि-निर्देशित मार्ग पर चलकर भटक जाता है।

कविता-प्रक्रिया और पुरोवाक् के बीच वैसा ही अन्तर है जैसा काव्य-दृष्टि और व्यवहार-दृष्टि के बीच। पुरोवाक् अधिकतर व्यवहार-दृष्टि के परिचायक हैं, काव्य-दृष्टि के नहीं। इसी व्यवहार-दृष्टि में आए बदलाव के कारण 'तार सप्तक' के कवियों को इसके द्वितीय संस्करण में वक्तव्य बदलने पड़े हैं। खैर जो 'राहों के अन्वेषी' हों उनके वक्तव्यों को गंभीरता से लेना भी नहीं चाहिए परन्तु उनमें से जो मंजिल (?) पा चुके हैं जब वे भी चमत्कारी बने रहें तो पाठक का 'ईश्वर ही राखा'।

श्रद्धेय गिरिजा कुमार माथुर ऐसे ही कवि हैं। वह कविता तो कुछ और लिखते हैं परन्तु उस पर चमत्कारी लेबल कुछ और ही लगा देते हैं। १९७५ ई० में उनका एक काव्य संकलन आया था—**भीतरी नदी की यात्रा**—दस-बारह वर्षों में समय-समय पर लिखी '**व्यक्तिगत अनुभूतियों की कविताएं**'!

कविता तो सदा से ही व्यक्तिगत अनुभूति के माध्यम से कालच्युत परम्परादर्शों का शोधन करती हुई शाश्वत जीवन-मूल्यों से जुड़ने का यत्न करती रही है। इस स्थिति में माथुर जी की उपर्युक्त पंक्ति का क्या महत्त्व है? वह लिखते हैं, 'असलियत में जीवन की समस्त अनुभूतियों को मैं दो स्तरों पर भोगता रहा हूं। एक को मैं आत्मीय और व्यक्तिगत (Personal) कहूंगा और दूसरी को सामाजिक। प्रश्न है कि क्या कवि प्राकृत-अनुभूति को ही सामाजिकता से मर्यादित नहीं करता रहा? यदि हां तो इसी प्रक्रिया में प्राकृत-अनुभूति कभी संकुचित तथा भोंथरी हो जाती रही है और कभी अपने प्राकृत-स्तर से उठकर उदार होती हुई बहु आयामी हो जाती रही है। अनुभूति के इस संयमन और विस्तारण के कारण ही उसमें संश्लिष्टता और द्वन्द्व की स्थितियां पैदा होती हैं, उसमें नये कटाव आते हैं। अत: माथुर जी उपर्युक्त पंक्ति में कुछ

नया कहते नहीं लगते।

भीतरी नदी की यात्रा के माध्यम से उन्होंने 'आदमी के प्रति प्यार और ममत्व' को पुनः प्रतिष्ठित करने का दावा किया है। उन्होंने हिन्दी कविता में बढ़ रहे व्यापक निषेध, नफरत, वीभत्सता, ग्लाज़त, आक्रोश, आक्रामकता, हिंसा और यथार्थ तथा स्पष्टबयानी के नाम पर फूहड़ता, असभ्यता, देह के घृणित व्यापार और गाली गलौज' का विरोध किया है। कवि का यह पुरोवाक् उनकी कविता के प्रति आश्वस्त करता है, परन्तु संकलन की अनेक कविताएं, इन्हीं कुवृत्तियों की पराकाष्ठा पर पहुंचकर पाठक का मोह भंग करती हैं। पृष्ठ ३, १२, ७६ पर अश्लीलता के विरोधी कवि ने नारी-देह का चित्रण किया है—विशेषकर नारी के स्तनों का। छींट के पोलके में ढंके, मेहनतकश मजदूरिन के स्तन कवि को उछलते-गिरते गेंद प्रतीत होते हैं और उन्हें देख कवि के सारे सभ्य संस्कार ढह जाते हैं। यहां कवि की दृष्टि वह 'तोड़ती पत्थर' में निराला की दृष्टि जैसी वेदनासिक्त न होकर लिप्सा के विकार से ग्रस्त है। कवि को गाढ़े शहद के कटोरे (नारी स्तन) वर्जित घाटी की वहशी खुशबुओं में लिपटने को प्रेरित करते हैं। सड़क पर यौवन की बाढ़, यौवन की गरमाहट और देहधारी शिखाएं, नुकीले फूलों (नारी स्तनों) की चुभन कवि को ग्रस रही है, विकार ग्रस्त-सा वह 'लिहाजों भरी सब्र' करके रह जाता है। पृष्ठ ८३ पर कवि नारी-स्तनों को कसी-कसी अंबियों के रूप में देख गया है। अपने युवा-शरीर से निकलती गंध और प्रियतम द्वारा रोपे गए आम के बौर की गंध में समानता; नायिका में मिलनोत्सुकता पैदा कर देती है और कल्पना में ही वह प्रियतम से आलिंगनबद्ध होती है। आत्मरति से ग्रस्त नायिका का सजा-संवरा जिस्म नया रूप धारण करता है, मंजे अंगों में चमक आती है और कसी-कसी अंबियां खूब चांदनी फैलाती हैं।

अश्लीलता-चित्रण का विरोधी कवि नारी स्तनों के लिए गेंद, कटोरे, नुकीले फूल, कसी-कसी अंबियां जैसे लोक प्रचलित संकेतों का सहारा लेता है। अश्लीलता 'स्तन' कह देने में नहीं बल्कि कथन के पीछे छिपी लिप्सा या विकार-ग्रस्त दृष्टि में है, अश्लीलता उन ऐसे विकारों में है जो कवि के सभ्य संस्कारों को चकनाचूर करते हैं; वर्जित घाटी में कूदने की प्रेरणा देते हैं; लिहाजों भरी सब्र करने को विवश करते हैं, इन पृष्ठों पर कवि कच्ची मानसिकता के छिछोरेपन से बच नहीं सका। क्या यह सौंदर्यानुभूति व्यक्ति सापेक्ष होकर चर्वण की स्थिति पर नहीं पहुंची? यदि हां; तो यही स्थिति अश्लील है। इसी संदर्भ में दो काव्य उदाहरण देखे जा सकते हैं—

> **"जानबूझ गिरते पल्लों को ऊपर/फिरती हैं/ लप-लप खिंचती हुई रबड़ें/छातियों के झुण्ड/बालों के घोंसले/.../टाइट गोल दुम्बे/३६-२४-३६।"** (पृ० ४५)
>
> **"हर साड़ी में बाहर से अनुमानित/परानुभूत दृश्य/जीभों की नपुंसक भूख नहीं मिटती आंखों के लैंस में/सिर्फ गिरती मिनी स्कर्टें।"** (पृ० ४५)

इस तरह उपर्युक्त पंक्तियों में अश्लीलता का विरोधी कवि क्या सड़कों पर घूमता फिरता नारी जिस्मों की ३६-२४-३६ जैसी पैमायश नहीं कर रहा? क्या साड़ियों के अन्दर के दृश्यों को नहीं झांक रहा? मानसिक स्तर पर क्या मिनी स्कर्टें नहीं उतार रहा? खैर जब यही बाजारू उत्तेजना लेकर कोई घर जाता है तो क्या होता है? कवि के ही शब्दों में—

> **गुर्राती हुई पालतू मादाओं पर/सोयेगी एक साथ सारी भीड़/उधार पाये चटखारे बटोर कर/अपने-अपने बासी चमड़े में।** (पृ० ४६)

रति-क्रिया के इस मैकेनिज़्म के माध्यम से कवि किस 'आदमी के प्रति प्यार और ममत्व को पुनः

प्रतिष्ठित करना' चाहता है? प्रश्न सोच मांगता है।

पुरोवाक् में कवि 'नगर बोध' की अपेक्षा कविता को 'जीवन के बुनियादी हिस्से'—'ग्रामांचल' से जोड़ना चाहता है क्योंकि ग्रामांचल चित्रण की प्रवृत्ति न 'रोमानी' है न 'यथार्थ के विमुख'। परन्तु कवि के ये कथन भी चमत्कारी सिद्ध होते हैं—संकलन की सशक्त कविताएं नगरबोध से ही जुड़ी हैं। प्रकृति, प्रणय, तीव्र अनुभूतियों के नाम पर तो 'भीतरी नदी की यात्रा' के कवि ने स्वयं को दुहराया मात्र है। क्या गांवों में नगरबोध का संक्रमण वैसे ही नहीं हो रहा जैसे नगरों में ग्राम्य-संस्कार दबे घुटे विद्यमान हैं? फिर एक सच्चाई को नकार कर दूसरी की पैरवी करना हास्यास्पद नहीं है क्या? प्रणयानुभूति के कुछ चित्र पृष्ठ १, ८, १७, ८१ पर के देखें तो बात आगे बढ़ सकती है। यहां अनेक बहुत अच्छी काव्य-पंक्तियां हैं, जिनमें प्रणयानुभूति की तीव्रता सराहनीय है पर 'प्रौढ़ रोमांस' वाले कवि की दायित्व-भावना का कोई निशान नहीं मिलता। मात्र सामंती-संस्कार (बुढ़ापे की कमज़ोरी के कारण) उभड़ आए हैं, पिंजौर गार्डन की रम्य स्थली में मन में अभुक्त के प्रति पश्चात्ताप जाग उठा है। कवि ने प्रकृति के अनेक चित्र उरेहे हैं, यदि फोटोग्राफ़िक चित्रों का काव्य में महत्त्व हो तो ये चित्र बहुत बढ़िया हैं पर इनमें आनुभूतिक संधि स्थापित हो जाती तो क्या ही अच्छा होता। जो नहीं है उसके प्रति रोना क्यों? फिर भी इस अभाव का एकमात्र कारण है—प्रयोग की ललक। 'देहछवि', 'निरवृत्त दिन', 'रात का हेयर-पिन', 'स्थाई खुशबू', इच्छातीत', 'काले जादू की गांठ', 'बीहड़ जंगलों के बीच', 'टूटी हुई कड़ी', 'द्वार पर' आदि कविताएं ऐसी ही मार से मरी हैं। फिर भी अनुभूतिजन्य एक सुन्दर प्राकृत-विम्ब बढ़िया है, देखें—

> **"नसों में फुंकती हुई आग/और धुएं, घबराहट की फ़जर से/थरथराती हुई ज़िंदगी/उस पर तुम्हारा साया/चिलचिलाती तेज़ धूप पर, नरम लाल पत्तों में/अमलतास खिल आया।"**
> (पृ० ३७)

ऐसे अनुभूति-सिक्त प्रकृति चित्र 'भीतरी नदी की यात्रा' में अत्यल्प हैं।

पुरोवाक् में कवि ने दावा किया है, "निषेध, वीभत्सता और व्यवस्था-विरोध का तेवर दिखाने वाली रचनाएं अपने अन्तिम विश्लेषण में आदमी, प्रकृति और जीवन के प्रति एक आकण्ठ अरुचि और नफरत का भाव पैदा करती हैं। कोई भी साहित्य या कला जो आदमी के प्रति घृणा का भाव पैदा करती है वह अन्ततः मानव विरोधी होती है। इसलिए मैं इस सारे मानव-विरोधी षड्यन्त्र और निषेधात्मक अन्धकार के वातावरण के बीच से रचना-धर्मिता को जोड़ना चाहता हूं।" परन्तु प्रश्न यह है कि इस वक्तव्य के बाद भी **साक्षी रहे वर्तमान** (१९६६-७७ तक) की इनकी कविताओं में यही निषेध, वीभत्सता और व्यवस्था-विरोध का तेवर क्यों है? 'भीतरी नदी की यात्रा' में भी 'कुछ बूंद उजेला!' 'पतझर की एक दुपहर', 'कनाट प्लेस', 'यंत्र-त्रास', 'बीसवां अन्धकार', 'रचनाहीन' आदि अनेक ऐसी कविताएं हैं जिनमें संत्रास, कुण्ठा, घृणा, ऊब, व्यवस्था-विरोध आदि को देखा जा सकता है। जिसके आधार पर कविता और वक्तव्य में विसंगति उभरकर सामने आ जाती है।

सातवें दशक तक की हिन्दी कविता में लगभग ५० काव्यांदोलन उभरकर सामने आए और जिस चमत्कार से वे उभरे थे उसी चमत्कार से विलुप्त भी हो गए। अनेक यशःकामी कवियों ने लघु पत्रिकाओं के माध्यम से कविता को जो नये नाम दिये वे बड़े रोचक हैं—जैसे सनातन सूर्योदयी कविता, अपरम्परावादी कविता, सीमांतक कविता, युयुत्सुवादी कविता, अस्वीकृत कविता, अकविता, सकविता, अन्यथावादी कविता, विद्रोही कविता, क्षुत्कार कविता,

कबीर पंथी कविता, समाहारात्मक कविता, उत् कविता, विकतिया, अभिनव कविता, अधुनातन कविता, नूतन कविता, नाटकीय कविता, एण्टी कविता, निर्देशायामी कविता, लिंगवादलमोत-वादी कविता, एब्सर्ड कविता, गीत कविता, नवप्रगतिवादी कविता, सांप्रतिक कविता, बोर कविता, ठोस कविता, कोलाज कविता, बोध कविता, मुहूर्त्त कविता, द्वीपांतर कविता, अति कविता, टटकी कविता, ताज़ी कविता, अगली कविता, प्रतिबद्ध कविता, शुद्ध कविता, स्वस्थ कविता, नंगी कविता, गलत कबिता, सही कविता, प्राप्त कविता, सहज कविता, आंख कविता आदि-आदि। कविता के ये नाम यश:कामी युयुत्सुओं द्वारा काव्य-क्षेत्र में फैलायी गई अराजकता की ओर संकेत करने के लिए ही गिनाए गए हैं। इन आन्दोलनों से यश:कामी युयुत्सुओं को तो कहीं सम्पादकी और कहीं प्रोफेसरी हाथ लगी होगी पर कविता के हाथ कुछ नहीं लगा।

आठवें दशक में 'विचार कविता' का खूब प्रचार हुआ है। श्री बलदेव वंशी इस काव्य-आंदोलन के समर्थक और पैरोकार रहे (?) हैं। अपने काव्य संकलन 'उपनगर में वापसी' में वह 'विचार कविता' के स्वभाव को रेखांकित करते हुए पुरोवाक् में कहते हैं—तर्कप्रधान काव्य मुद्राओं को लेकर आक्रामक प्रवृत्ति, कविता में आन्तरिक स्तरों पर तनाव के सृजनात्मक रूपाकार···वैचारिक सक्रियता एवं आत्म-स्फूर्ति को सहृदयता एवं जुड़ाव के जरिए फलीभूत करने की प्रवृत्ति, विषय के साथ सीधे साक्षात्कार में स्वयं को व्यापक अर्थों में विवेक तथा समाज-सम्बद्धता की शक्ति से सज्जित करने की प्रवृत्ति, जनमानस के प्रति जुड़ाव तथा नैतिक जिम्मेदारी की सच्चाई,···अनुभूति के साथ कवि का सम्बन्ध विचारणा के स्तर का,···विचार कविता इसलिए और इन अर्थों में है कि आज की असलियत का अन्वेषण करती है और समकालीन व्यक्ति का, उसके आसपास का, और उसकी सही हालत का बोध कराती है और उसे सक्रिय करती है, इस बोध की वाचकता वैचारिक मन:स्थितियों में से छनकर आई है।

वस्तुत: विचार के लिए व्यक्ति-मन के समक्ष छः प्रश्न उठते हैं—कब, कहां, कौन, कैसे, क्यों, किस। कविता में जब वैचारिक स्थिति आती है तो कब-कहां (देशकाल) आदि से संबंधित प्रश्न महत्त्वहीन हो जाते हैं, कौन-किस का महत्त्व भी संघर्ष की दो विरोधी शक्तियों, स्थितियों या व्यक्तियों से जुड़ा रहता है जो बदलते रूपों के बावजूद लगभग स्थिर रहता है। क्यों और कैसे ही कविता का महत्त्वपूर्ण हिस्सा है। अन्याय और हिंसा क्यों हो रही है; कैसे हो रही है—समकालीन कविता का यही मूल कथ्य है। यह अन्याय और हिंसा कौन कर रहा है और किसके खिलाफ कर रहा है, यह प्रश्न उठते ही कवि के सामने प्रश्न उठता है जिम्मेदारी और जुड़ाव का, प्राय: यह जुड़ाव या जिम्मेदारी की भावना सांस्कृतिक धारणा के अनुकूल ही होती है। मध्ययुग में यह जुड़ाव अप्रत्यक्ष ही सही अन्यायियों के प्रति था तो आधुनिक युग में यह जुड़ाव अन्याय भोगियों के प्रति है। भावुकता के युग में जुड़ाव भी भावुक था; बौद्धिकताप्रधान युग में जुड़ाव का तर्कपूर्ण हो जाना स्वाभाविक है। यहां यह कह देना आवश्यक नहीं रह जाता कि विचार तटस्थ हो सकता है, कविता तटस्थ नहीं हो सकती। इसीलिए कविता रिपोर्ताज से भिन्न है, रिपोर्ताज वस्तुस्थिति है और कविता वस्तुस्थिति के प्रति आनुभूतिक प्रतिक्रिया।

कविता में अनुभूति और विचार का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। कविता (एक तरह से) अनुभूतिजन्य विचार से विचारजन्य अनुभूति तक पहुंचने की प्रक्रिया है, कवि के मन में कविता का क्रम यही होता है, पाठक के समक्ष यह क्रम उलट जाता है। **उपनगर में वापसी** काव्य संकलन में दोनों प्रकार की कविताएं हैं। 'उपनगर में वापसी' विचारजन्य अनुभूति की कविता

है; कवि 'उपनगर' की गागर में अतीत-वर्तमान की सभी समस्याओं और आशंकाओं से मण्डित देश रूपी 'सागर' को ठूंस देने के यत्न में है। २५ अंशों में विभाजित प्रस्तुत कविता में विचार का काफी दुहराव है—तटस्थ-सा टिप्पणीविहीन दुहराव जो कविता को रिपोर्ताज बना देता है। अनुभूति से विचार तक की काव्य-प्रक्रिया को स्पष्ट करने के लिए कवि की कविता 'पर्दा बदलते हुए' की आरम्भिक पंक्तियां महत्त्वपूर्ण हैं—

"कभी होता है/ऐसा भी/कि स्थितियां, सुविधाएं और वस्तुएं/आपस में टकरा कर देती हैं आकार एक भाव को/जो भीतर मुरचता रहता है लगातार..."

अनुभूति की यह 'मुरचन' ही विचार तक पहुंचाती है, ऐसी कविताएं ही अनुभूतिजन्य विचार को घोषित करती हैं। इसी क्रम में लिखी गई प्रस्तुत संकलन की कविताएं,—विचारजन्य अनुभूति वाली कविताओं से कहीं अधिक सशक्त और पूर्ण हैं—विशेषकर 'आड़ा सरिया', 'गुजरते हुए', 'बद्दुआ वाला हाथ', 'सायरन बज रहा है', 'युद्ध-प्रेत', 'हल्फनामा-?', 'चलन हवाओं का' आदि।

अब हमें यही देखना होगा कि 'विचार कविता' में विवेक तथा तर्क को महत्त्व देने वाले कवि की काव्य पंक्तियां कितनी तर्क-विरुद्ध हैं, कुछ उदाहरण लें—

'ढलानों पर एकत्र पानी सदा'

× × ×

'संभावित दुर्घटना सोचते ही/नम हो आयीं आंखों में/डूबती रोशनियां'

× × ×

'बेसुध नंगे पड़े हैं पखेरू उड़ने को'

× × ×

'चोर पांवों आकर कोई/काली कम्बली डाल जाता है रातों—.
रात कुत्तों की नींद सोये ये/जग न जायें के भय में'

× × ×

'हिमालय के ढलानों को रौंदती/नीचे उतर रही है शोक नदी'

ये पंक्तियां क्रमशः प्राकृत-सत्य, विचार गत प्रतिबद्धता, मानसिक स्थिति तथा स्वभाव-सत्य के विपरीत हैं—पानी ढलान पर नहीं रुकता, विचारशील व्यक्ति संभावित घटना के प्रति रोता नहीं, सुधहीन व्यक्ति उड़ने की आकांक्षा क्या करेगा? कुत्ता हवा की धीमी चाल को सुनकर जाग जाता है, शोकग्रस्त व्यक्ति तो उठाए नहीं उठता वह बेचारा रौंदेगा क्या? यदि प्रस्तुत पंक्तियों में विचार कविता का प्रतीक विधान भी देखें तो ये प्रतीक भाववादी अर्थ-रूढ़ियों से ग्रस्त हैं।

कविता में भी और स्वाभाविक जीवन में भी तर्क की भूमिका विश्लेषण से सम्बद्ध है। परन्तु अनेक कविताओं में विश्लेषक-तर्कों का अभाव है। कवि की एक कविता है—'मन्यु'। प्रस्तुत कविता में मन्यु (मनु की संतान?) संघर्षरत मानव का प्रतीक है। भारतीय मिथों में मनु संतान के अतिरिक्त अभिमन्यु और उपमन्यु नाम के दो प्रतीक पात्र हैं। अभिमन्यु अनैतिकतापूर्ण आक्रमणों के विरुद्ध संघर्षशीलता के बावजूद हो जाने वाले हनन का प्रतीक है और उपमन्यु गुरु सेवक शिष्य—एकलव्य का ही पूरक प्रतीक है। परन्तु प्रस्तुत कविता अधिकतर अभिमन्यु से ही जुड़ती है। तार्किक; विश्लेषक होता परन्तु यहां तो घपलाबाज ही प्रतीत होता है, उदाहरण देखें—

स्तब्ध-हत प्रकृति में/मन्यु है कृष्ण, मन्यु दुर्योधन।
मन्यु है सेना अक्षौहिणी, मन्यु अर्जुन, मन्यु अभिमन्यु है!
मन्यु मोह मन्यु विमोह है/मन्यु संघर्ष है सतत/अविकल
युद्ध ही मन्यु है

कवि के ही शब्दों में यदि 'मानवी उच्छ्वासों में समता कहां है?' तो फिर मन्यु में यह घपलाबाज़ी क्यों है? कुल मिलाकर मन्यु तर्कविहीन भावुकता-प्रेरित घपला है। क्या काव्य-वाक्यों के पीछे प्रश्न सूचक 'कड़छियां' लगा देना ही विचार कविता है?

लोग भूल गए हैं काव्य संकलन के निवेदन में श्री रघुवीर सहाय लिखते हैं 'मंझधार से या कहें कि बीच भंवर से लिखी हुई कविता' प्रकाशित कर देने का यह मेरा पहला अवसर है। इसके पूर्व 'आत्महत्या के विरुद्ध' और 'हंसो, हंसो, जल्दी हंसो' दोनों एक-एक निष्कृति के सूचक थे। उसके पहले 'सीढ़ियों पर धूप में' कविता के एक से अधिक पड़ावों तक सहेज कर ले जायी गयी उपलब्धियों का संचय था। उसके भी पहले 'दूसरा सप्तक' में आकलित रचनाएं अत्यन्त प्राथमिक कविताओं के अभ्यासमूलक दौर से निकलते ही अपनी दुनिया में पैर रखने के समय की कविताएं थीं।···अपने को पूरा करना; अपने अधूरेपन को समाज के सामने परीक्षा और पड़ताल के वास्ते लाये बिना, आज सम्भव नहीं रह गया है। कवि का उपर्युक्त वक्तव्य कवि की ईमानदारी का अच्छा सुबूत है। पर क्या 'लोग भूल गए हैं' से पहले की कविताएं पाठक के प्रति अन्याय का पर्याय थीं?

'चौथा सप्तक' के कवियों ने अपने वक्तव्यों में प्रायः वही दुहराया है जो साधक कवि तथा समीक्षक पहले कह चुके हैं। उनके विचारों में परस्पर विरोध भी हैं जिससे यह साफ़ हो जाता है कि कविता की परख के लिए अभी तक भी कोई सर्वमान्य कसौटी नहीं बन पाई, खैर वह हो भी नहीं सकती। फिर भी इस सप्तक के कवियों में एक समान विचार-बिन्दु है—शब्द को नवीन अर्थवत्ता देने की ललक का उत्साह। कवि **नन्दकिशोर आचार्य** का कथन इस संदर्भ में देखा जा सकता है—'मेरे पास ऐसा कोई पूर्व निर्धारित सत्य नहीं है जिसे मुझे कविता की तरह से कहना···कविता का माध्यम शब्द है···शब्द की सीमा और सत्य की व्याप्ति के बीच का तनाव ही तो कविता का तनाव है और हर बार यह तनाव शब्द की सीमा को तोड़कर उसका अर्थ विस्तार करता है···यही एकमात्र प्रतिबद्धता है जो मेरे कवि होने में ही निहित है···संभव है कि मेरी कविता इस कसौटी पर खरी न उतरे।' **डॉ० सुमन राजे** कहती हैं—'मेरी तलाश कविता की तलाश है, मैं भाषा की तलाश को पृथक् से कोई समस्या नहीं मानती।' **श्रीराम वर्मा** का कथन है—'कविता में शब्द का महत्त्व होता है।···मैं अपने प्रत्येक शब्द का स्वयं सर्जक हूं। वे मेरी रागानुगा वृत्ति के बीज़ हैं, अंकुरित, टटके। वे मेरे विचार के आचरण हैं। मैं उन्हें नया संस्कार देता हूं।'

उपर्युक्त उद्धरणों से कवियों का परस्पर वैचारिक सहमति और विरोध स्पष्ट हो जाता है, यह विरोध न भी हो तो फर्क नहीं पड़ता क्योंकि ज्ञान के क्षेत्र में महत्व बहुमत का नहीं होता। महत्व तर्कसंगति का होता है/ठीक है, शब्द को नवसंस्कार देना कवि का निष्ठापूर्ण कर्म है पर उसके लिए 'अज्ञेय' की जैसी गंभीरता, उदारता और सांस्कृतिक चेतना का संगम होना आवश्यक है। अन्यथा कविता वैसी ही हो जाएगी जैसे (आज के संदर्भ में) वैदिक सूक्त हो गए हैं, जिन्हें समझने के लिए टीकाओं की आवश्यकता पड़ रही है—ऐसी कविता तो ये कवि भी नहीं चाहते होंगे। काव्य प्रेषण काव्य क्षेत्र की प्रमुख समस्या है और इस संदर्भ में कवि **राजेन्द्र**

किशोर के कथन को उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत हो रहा है; वे कहते हैं, "अद्वितीयता ही कवि का कथ्य होती है, वही उसकी उपलब्धि/इसलिए साहित्य के प्रसंग में साधारणीकरण का सिद्धांत गलत ही नहीं, असंभव भी है। अद्वितीयता का साधारणीकरण कैसे हो सकता है ?···कविता के अध्यापन के प्रसंग में मैंने यह अनुभव किया कि कविता की सम्प्रेषणीयता इस पर निर्भर करती है कि वह पाठकीय archetypes के कितना करीब जा सकती है। फलत:, मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि महान कविता अपनी अद्वितीयता की अभिव्यक्ति के लिए शब्द का, रूप का, लय का अनुसंधान नहीं करती, archetypes का अनुसंधान करती है।" प्रस्तुत उद्धरण का अन्तिम भाग कवि का व्यक्तिगत निष्कर्ष न होकर युग का निष्कर्ष है। कवि का यह मत भी है, "सम्प्रेषण का सम्बन्ध केवल कवि से है। रचना प्रक्रिया में उसका व्यक्तित्व विभाजित हो जाता है। वह एक साथ ही स्रष्टा और भोक्ता बन जाता है। कविता का सारा रूप निर्माण इसी भोक्ता के लिए होता है।" उनकायह कथन स ही प्रतीत होता है परन्तु इसी अर्थ में कि **कविता अनुभूतिजन्य विचार से विचारजन्य अनुभूति तक पहुंचनें की प्रक्रिया है।**

काव्य और पुरोवाक् के बीच पाए जाने वाले उपर्युक्त अन्तर्विरोधों के विश्लेषण के आधार पर कहा जा सकता है कि सभी काव्यांदोलनों में स्वयं को केन्द्रीय कवि के रूप में देखने की ललक ही कवियों के द्वारा काव्य क्षेत्र में फैलायी गई अराजकता का कारण है। यह भी कहा जा सकता है कि मौजूदा काव्यधारा के समक्ष अटपटी प्रतीत हो रही कविताओं के प्रति कवियों द्वारा पुरोवाक् के माध्यम से पाठक को आकर्षित करने का प्रयास किया जा रहा है, अत: पुरोवाक् कोई गंभीर समीक्षात्मक टिप्पणी नहीं है। प्रश्न यह भी है कि कवि को पुरोवाक् या वक्तव्य या स्वसमीक्षा की आवश्यकता क्यों पड़ी ? किसी जमाने में 'अज्ञेय' जी को अनुभव हुआ था कि समीक्षकों के पूर्वाग्रहों और हठधर्मी दृष्टि को सहन करने की अपेक्षा कवि को अपना समीक्षक आप बनना होगा। कुछ हद तक उनका यह कथन सही भी है। लगे हाथ समीक्षकों की हठधर्मी का विश्लेषण भी कर लें तो बात स्पष्ट हो जाएगी। मुक्तिबोध की एक कविता है ब्रह्मराक्षस। इस विवादग्रस्त कविता को किसी समीक्षक ने 'अभिव्यक्ति (परम अभिव्यक्ति) की तलाश' कहा है तो किसी ने 'अस्मिता की तलाश'। किसी ने मुक्तिबोध को ही 'ब्रह्मराक्षस' और उसके शिष्य के रूप में देखा है तो किसी ने इसे उनके प्रसिद्ध अभिप्राय-'शक्ति पुरुष' का ही 'पूर्ववर्ती बिम्ब' माना है। विद्वानों ने इन मतों का आधार कवि के कथनों और उसकी कविताओं—कहानियों से मिले अन्त:साक्ष्यों को ही बनाया है। परन्तु निश्चित करने के लिए कवि-कथनों और अन्त:साक्ष्यों के बीच जिस संतुलन-स्थापन की आवश्यकता रहती है उसका अभाव समीक्षकों में बना रहा है।

भारतीय पुराणों में ब्रह्मराक्षस की कल्पना है। वहां ब्रह्मराक्षस अभिशप्त या बहिष्कृत ज्ञानी है, अहंकारी (egoist) है, अनैतिक कर्मों के कारण दण्डित है, आबादी से दूर अन्धेरे में भटकता है, भगवान विष्णु के शंख की ध्वनि (जनता की आवाज, ईश्वर की दुंदुभी) उसे भयभीत करके आबादी से दूर भगा देती है, जहां शंख बजता है ब्रह्मराक्षस वहां फटकता तक नहीं।

मुक्तिबोध का ब्रह्मराक्षस शहर से दूर, खण्डहर के पास; परित्यक्त सूनी बावड़ी के अन्धेरे में बैठा है (मुक्तिबोध की डायरियों में ऐसी सूनी बावड़ियों, टीलों, गुफाओं और परित्यक्त स्थलों का वर्णन प्राय: मिल जाता है। यदि यह ब्रह्मराक्षस स्वयं मुक्तिबोध ही है तो यह उनका वह व्यक्तित्व है जो व्यक्तिगत अहं (ego) की रक्षा के लिए पारिवारिक इच्छा (Super ego) के विरुद्ध प्रणयविवाह करके घर से बहिष्कृत होता है। इस पूंजीवादी युग में—

जहां पूंजी ही 'हृदय-मन' है, 'पूंजी ही अन्तःकरण को अभिभूत' किए हुए है—मुक्तिबोध जैसे परम्परा-शोधक का अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त हो जाना अस्वाभाविक भी नहीं। वह बड़े युयुत्सुभाव से नौकरियां ढूंढते हैं और छोड़ते हैं, खूब भटकते हैं और टूटते हैं, फिर पूंजी के युग में कौन पूंजी-हीन को अपनाता है? मन पर अनेक कटु अनुभवों की पाप छायाएं हैं, जिन्हें वह धो डालना चाहते हैं—

ब्रह्मराक्षस / घिस रहा है देह / हाथ के पंजे बराबर /
बाँह छाती-मुंह छपाछप / खूब करते साफ, फिर भी मैल"

मुक्तिबोध अपनी डायरी में लिखते हैं, "मैं ब्रह्मराक्षस हूं। अनादिकाल से चला आया वह ब्रह्मराक्षस जिसने हमेशा सही रहने की कोशिश की और गलती करता चला गया।" (मुक्तिबोध रचनावली, भाग ४, पृ०१९६) उनका वह व्यक्तिगत अहं (ego) ही गलतियों का जनक है, जो कहीं समझौता नहीं कर पाता, समूह से जुड़ नहीं पाता। पौराणिक ब्रह्मराक्षसों ने भी अहं (ego) के कारण ही अनैतिक कर्म किये हैं उदाहरणस्वरूप रावण द्वारा सीताहरण और अश्वत्थामा द्वारा भ्रूणहत्या को लिया जा सकताहै। ब्रह्मराक्षसों के अहं का स्रोत है इनका युयुत्सु-पाण्डित्य। यही युयुत्सु-पाण्डित्य मुक्तिबोध के ब्रह्मराक्षस में भी मौजूद है। उसे लगता है कि सूर्य और चन्द्र ने भी उसे 'नमस्ते' कहा है और उसे ज्ञान गुरु माना है।

प्रस्तुत ब्रह्मराक्षस का संघर्ष अहं और परंपरा के बीच का संघर्ष है, संघर्ष की ये 'अन्तर्कथाएं प्रिय' हैं क्योंकि यह 'अच्छे व उससे अधिक अच्छे' तक पहुंचने के लिए हैं, परम्पराएं अच्छी हैं परन्तु उनका परिशोधन जरूरी रहता है। ब्रह्मराक्षस (मुक्तिबोध) बावड़ी (अन्तर्मन-कभी संदूक तो कभी टीला) में प्राक्तन संस्कारों (परम्परा Super ego) का शोधन कर रहा है। अहंकार पोषक ब्रह्मराक्षस का अन्तर्मन अधोमुखी होकर बावड़ी बन जाता है परन्तु जब वह अहं-विसर्जन कर उदार होने की प्रक्रिया में होता है तो यही अन्तर्मन ऊर्ध्वमुखी 'जीना' बन जाता है। यहां यह स्पष्ट कर देना होगा कि यह ऊधर्वगमन, भाववादियों का साधनवाला ऊर्ध्वगमन नहीं है। युयुत्सु-पण्डित ब्रह्मराक्षस (मुक्तिबोध) के लिए अहं-विसर्जन सुगमता से संभव नहीं है, वह बार-बार जीने की सीढ़ियों से गिर जाता है, पुनः चढ़ता है—अहं और परंपरा के बीच के संघर्ष को कड़ियल जान ब्रह्मराक्षस झेल रहा है। इस संघर्ष में परम्परा विजयिनी होती है, अहं मारा जाता है। अहं की यही नियति है जैसे व्यक्ति की नियति समाज के समक्ष!

व्यक्तिगत जीवन में मुक्तिबोध को प्रणय-विवाह करके इसी पारिवारिक परम्परा (Super ego) के समक्ष पराजित होना पड़ा और वह 'सजल उर' होकर वृद्ध पिता के प्रति कर्त्तव्यनिष्ठ तथा वेदनासिक्त रहे (मुक्तिबोध की कविताओं में माता-पिता परम्परा के ही प्रतीक हैं।) मुक्तिबोध परम्परा-शोधन की प्रक्रिया को विकासशील रखने के पक्ष में हैं और इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अहं-विसर्जित वेदनासिक्त (सजल उर) चिंतक ही परम्परा का सफल शोधक हो सकता है—'ऐसा सजलउर शिष्य ही ब्रह्मराक्षस के अधूरे कार्यों, उसकी वेदना के स्रोतों को संगतिपूर्ण निष्कर्षों तक पहुंचा सकेगा।'

(ब्रह्मराक्षस का अंतिम पैराग्राफ)

उपर्युक्त मन्तव्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए मुक्तिबोध ने इसी कविता की पूरक कहानी 'ब्रह्मराक्षस का शिष्य' लिखी है। उन्होंने कई डायरियों में इच्छा प्रकट की है कि अपनी कविताओं को कहानियों के रूप में तो कहानियों को कविताओं के रूप में पुनः लिखें, तर्क

यह कि कविता का अमूर्त्तभाव कहानी में अधिक मूर्त्त और स्पष्ट हो जाता है। प्रस्तुत कहानी का ब्रह्मराक्षस अपने शिष्य से कहता है—"मैंने अज्ञान से तुम्हारी मुक्ति की तुमने मेरा ज्ञान प्राप्त कर मेरी आत्मा को मुक्ति दिला दी···जब तक मेरा दिया तुम किसी और को न दोगे तब तक तुम्हारी मुक्ति नहीं।" (डॉ० ओमप्रकाश गुप्त—कविता जो साक्षी है—पृ० १४ से उद्धृत)

ब्रह्मराक्षस का उपर्युक्त कथन ज्ञान के विस्तारण का द्योतक है, विस्तारण की प्रक्रिया में शोधन रहता ही है। परम्परा-शोधन सम्बन्धी मुक्तिबोध के ये विचार मार्क्सवादी चिंतना से प्रसूत हो सकते हैं परन्तु क्या कुलकर्णी-वैष्णव-ब्राह्मण मुक्तिबोध भारतीय संस्कृति के ऋषि-ऋण जैसे आप्त अभिप्राय को भूल गए होंगे? क्या ब्रह्मराक्षस इसी ऋण से उऋण होकर शिष्य को ऋणी नहीं बनाता? पौराणिक साहित्य में लक्ष्मण को राजनीतिक ज्ञान देकर ब्रह्मराक्षस रावण मुक्त होता है। कृष्ण को अपनी ज्ञान मणि सौंपकर ब्रह्मराक्षस अश्वत्थामा पाश-मुक्त होता है। अंततः यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि प्रस्तुत कविता (ब्रह्मराक्षस) में कवि ने परम्परा भंजन का विरोध करके परम्परा शोधन की आवश्यकता पर बल दिया है, यह शोधन सजलउर होकर ही किया जा सकता है, क्रूर भंजक होकर नहीं। इस तरह फैंटेसी-प्रधान यह कविता परम्परा शोधन की द्योतक है न कि 'परम अभिव्यक्ति की तलाश' की या 'अस्मिता की तलाश' की।

कवि-वक्तव्यों और काव्य के उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि काव्य-रचना के मर्म तक पहुंचने के लिए न तो पूर्वाग्राही हठधर्मी समीक्षकों के शब्द जाल पर और न ही मिथ्या-यशकामी चमत्कार-प्रिय कवियों के वक्तव्यों पर यकीन किया जा सकता है। अतः सूत्रों के आधार पर रचना की जो सत्ता-सर्जित होती है वह स्वतंत्र सत्ता है—रचना द्वारा सर्जित होते हुए भी उससे स्वतंत्र, उस शिशु की तरह जो जन्मदात्री मां के रक्तादि से विकसित तथा दूध से पोषित होने के बावजूद मां से स्वतंत्र अस्तित्व रखता है, बेशक मां ने उसके सृजन में मरणांतक पीड़ा सहन की हो। अतः रचना का मूल्यांकन रचनाकार के लाड़-प्यार को ताक पर रखकर तथा रचना के अन्त:सूत्रों को पकड़कर ही किया जा सकता है और चमत्कारप्रिय कवियों और समीक्षकों से ईमानदारी की इतनी मांग तो की ही जा सकती है अन्यथा साहित्यिक अराजकता के बीहड़ जंगलों में भटका हुआ पाठक सद्-साहित्य को नमस्कार करके मुक्त हो जाएगा। □

कविता

राजा, तेरी नगरी में चोर

□ डॉ० अग्निशेखर

दिन
कोने में दुबकी हुई
सहमी बिल्ली से हो गये हैं
सांसों के उतार चढ़ाव में
डूबते हुए
बच निकलती है
दिये की लौ

अब हर ओर
दुर्गन्ध-सी फैल चुकी है खबर
कि जमीन की तहों को फाड़ता हुआ
घाटी का पिशाच
सतह पर उभर आया है
अब गुजरती नजरों से
कोई चोर झांकने लगा है
हर रोज खिड़की से सूरज
हिजड़ों की भाषा में
लिखा पत्र
दे जाता है लोगों के हाथ

अब शहर में
हर ओर से तंग सड़कें
मुहल्लों में घुसकर
फुफकार रही हैं

मुझे शिकायत नहीं
कि मेरा ढहता हुआ मकान
धूल के आंसू बहा रहा है
मेरा बचपन
धुंधलके में खोये पर्वत दामन में
गिरे हुए जहाज की तरह धंसा पड़ा है
नजरें दूर तक नहीं जातीं
हमारा नेतृत्व
बुझी लालटेन-सा
झोंपड़ी की खूंटी पर टंगा है

लोग
बंद बिस्तरे में
चिनार की जड़ें लिये
किसी सुरक्षित कोने की तलाश में
एक अंधी सुरंग से कहीं भाग रहे हैं
कुछ लोग
बाहरी और भीतरी घुटन में
तालमेल बिठाते हुए
नदी के आर-पार
एक पूरे शहर-सा बंट गये हैं
अब सैलाब
सिर की ऊंचाई से बह रहा है
हर कहीं शंकित भीड़ के बीच

मंदिर मदारी-से लग रहे हैं
मेरे आंगन में अक्सर
दिन की उगी घास
अंधेरे की भैंस चर जाती है
वैसे भी अब
मेरी बात रद्दी कागज में बदल रही है

यह नदी जो उम्र है
मत पूछिए कि तटों पर
कुछ खाली मकान
क्यों मायूस-से खड़े हैं
खिड़कियों से बाहर निकलता धुआं
वीराने को शब्द दे रहा है
मेरे मित्रों को शिकायत है
कि वे सरकारी-नल के पानी-सा
व्यर्थ बह रहे हैं
दफ्तरों में
कूड़ादानियों पर
रंगरोगन के आदेश लागू हैं।
इधर अब हरे जंगल में
आरी तेज-तेज चलने लगी है
डरे हांगुल को कोई अंतर नहीं
कि देश के अखबारों में चर्चा है
कि उसकी रक्षा में
एक डाक-टिकट जारी हुआ है
अब अपनी बस्ती के पिछवाड़े
मलबों के नीचे दबी पड़ी
सड़कें खोजनी ही होंगी
कि कहां से मेरे पूर्वज
उतर कर गये थे
पर्वतों के उस पार

बच्चे अब सोने से पहले
कहानियां नहीं सुनते
उनके भीतर
खुलती पंखुड़ियों पर
कोई सूई-सी चुभ रही है
मेरा बच्चा
रात को नींद में
एक खेल के बोल बड़बड़ाता है :
'राजा जी राजा'
क्यों राजा
श्रीनगर में चोर आया
किस रास्ते
इस रास्ते···
अब हर सांस में
कांपती है दिये की लौ

□

कहानी

लम्हा लम्हा मौत

□ महाराज कृष्ण शाह

उसने पत्र को जेब में बड़ी एहतियात से रखा। अभी तक एक आवाज़ थी जो सड़क के शोर से उसे अलग कर रही थी—वह अपार भीड़ में अपने आपको गुम होता देखना चाहता था—पर वह अलग-थलग था—सभी लोग एक के बाद एक उससे अलग होते जा रहे थे।

तुम कैसी हो? हैलो···हाय! देखकर नहीं चलते ज़रा-सा छू जाता तो हड्डी-पसली एक हो जाती—कीप टू यूअर लेफ्ट···दफ्तर से आया हूं। अभी···सुना तुम्हारी वाइफ बीमार हुई है—हम औरतों में यही तो बीमारी है—चलो मुन्ना चाट खाते हैं···दस का माल पांच में···छः-छः आने···अभी लो···सिर्फ चालीस पैसे···एक रुपया दर्जन···केले···डल की ताजा मछलियां···छः रुपये किलो···सिर्फ छः···हटो यहां से सारा फुटपाथ घेर रखा है। साहब दौरे पर हैं नौकरी का सवाल है बाद में फिर बैठ जाना···उठो भी साली···वह ठिठककर रुक गया है—अब सब कुछ बहता हुआ देख रहा है या अनदेखे सोच रहा है—यह चिट्ठी लिखने के बाद जबीना ने अपने आप में कितनी राहत महसूस की होगी—वह कुछ नहीं कर सकती—स्थिति उसके काबू से बाहर हो चुकी है—अब यह चिट्ठी मेरी है—मेरी जेब में है—शायद वह भूल भी गई हो कि उसने किसी शबीर को चिट्ठी लिखी है। अन्धेरा बढ़ रहा है—सड़क की ट्यूब लाइटें जल उठी हैं—एक दिन खत्म हो गया—एक और दिन—जो कल ही की तरह गुजरा—कल मगर वह इतना खाली नहीं था·····कल शाम उसने कोई आवाज नहीं सुनी थी···सब खामोश था···एक बहरापन-सा चारों ओर से टूट पड़ा था उस पर—उसने कोट की जेब में पड़े बंद लिफाफे को सहलाया, शब्द उसके कानों में फिर गूंज उठे—"अपने परिवार···अपने बच्चों के प्रति तुम्हें इस कदर लापरवाह नहीं रहना चाहिए···इसमें उन मासूमों का क्या दोष—?—तुम्हें उनके लिए जीना होगा···जिन्दगी शायद इससे बेहतर हो नहीं सकती·····बहुत-सी बातें जिन्दगी में बस निभानी होती हैं—यह न समझना कि मैं कोई उपदेश दे रही हूं मैं अभी भी वही हूं तुम्हारी कमअकल—

—जबीना

मेरी ! न रहने पर होने का ऐसा अहसास दिलाना रहे-सहे से भी कितना खाली कर देता है। शुरू से ही कई ऐसी चीजें थीं जिन्हें अपने पास सम्हालकर रखने का उसे बहुत शौक था—चाहती थी—पर वे सब चीजें उसकी पहुंच से बहुत दूर थीं—इसीलिए उनके बारे में सोचना वह फिजूल समझता था—वह अपने साथ यह मानकर चलता था कि ऐसी चीजें संसार में परीकथाओं की तरह हैं—जिन पर उसे जरूरत से ज्यादा यकीन नहीं करना चाहिए—परीकथा सुनाने वाली जबीना उसके सामने हुआ करती—उसे न वह सम्हालकर रखता, न कहीं इस बात की जरूरत महसूस होती। शबीर से दो साल बड़ी होने के हक को वह आज भी प्रयोग में लाती है। लेकिन एक दिन अचानक उसने शबीर को अपने से बहुत बड़ा होते देखा था। उसके बाद अपने आपको वह कमअकल समझने लगी थी···

क्या आदमी की उपस्थिति दूसरे आदमी के लिए इतनी आवश्यक है? जबीना अगर मर गई होती और उसका कोई पुराना पत्र शबीर के हाथ इसी तरह लगा होता तो क्या वह इससे कुछ भिन्न महसूस करता जो वह इस वक्त महसूस कर रहा है। तब क्या यह एक मरे हुए प्राणी का पत्र है जो उसे अचानक किसी पुरानी यादगार की तरह पहली बार मिला है··· 'नहीं···जबीना इतनी जल्दी मर नहीं सकती···उसे तो मेरे बाद मरना है ··मेरी लाश देखकर··· वह सोचने लगा और उसकी आंखें एक अनोखी कड़वाहट से भर गईं···शाम उसे अचानक बदलती लगने लगी—और उसके कदम तेज-तेज 'बार' की तरफ बढ़ने लगे—ठंड का अहसास उसके दिमाग से ओझल हो चुका था—फिर भी उसका शरीर जकड़-सा गया था और वह यकीनन शरीर को कुछ हरारत पहुंचाना चाहता था—उसे किसी भी चीज के बारे में कुछ नहीं सोचना है बस आराम से जीते जाना है। 'बार' की नीम अंधेरी दुनिया में घुसते ही उसे बहुत अफसोस हुआ···कुछ भी साफ नहीं दिख रहा था···उसे अपना आप यकायक कड़ी धूप में परछाईं की तरह घटता नजर आया—वह कोई निश्चय न ले पा रहा था···आहिस्ता-आहिस्ता जैसे उसकी आंखें खुल गईं और उसने अपने आपको बराबर, अपने बराबर होते पाया···मुहम्मद अली अपनी जगह बैठा-बैठा मुस्कराते हुए उसे देख रहा था— उसके टेबल पर व्हिस्की का आधा भरा गिलास और सलाद के टुकड़े प्लेट में पड़े एक निश्चित अन्त की प्रतीक्षा कर रहे थे—दीवार पर लगे क्लॉक में ठीक नौ बज चुके थे। बार में भीड़ ज्यादा नहीं थी। कांच की ध्वनियां, रेडियो से खबरें, किचन से फ्राई होती खुशबू और आवाजें एक साथ टूट पड़ीं शबीर पर और वह काउण्टर के ठीक सामने लगे बड़े वाल मिरेर में शेष बार को अपने साथ देखने लगा—शीशे के फोरग्राउण्ड में वह स्वयं है और बैकग्राउण्ड में शेष लोग-मुहम्मद अली शहीदाना अन्दाज से सिगरेट फूंक रहा है। शबीर कभी-कभी इसी तलखी में घुलता हुआ सिगरेट पीता है···पर इस समय मुहम्मद अली को देखकर उसके भीतर अजीब-सा एतराज जागने लगा···वालक्लॉक के निचले हिस्से में लगे मिनी कैलेण्डर पर तीस दिसम्बर का दिन चिपका है। वहां वर्ष नहीं है···सिर्फ दिन है। उसे लगा वह वर्षहीन जी रहा है—सिर्फ ३० दिसम्बर और तीस दिसम्बर···और तीस दिसम्बर···तीसरा विश्व युद्ध होगा या नहीं ?···मुहम्मद अली ने बैरे का हाथ पकड़कर पूछा···बैरा हड़बड़ाया मानो किसी ने उसकी पीठ पर बन्दूक रख दी हो—'हजूर आप पढ़े-लिखे हैं, पेपर पढ़ सकते हैं···दुनिया जानते हैं···आप ही बताइये···' बैरे ने बहुत श्लील ढंग से अपना हाथ छुड़ाते हुए जवाब दिया और एक सुरक्षित फासले पर मुहम्मद अली के जवाब का इन्तजार करने लगा···मुहम्मद अली अब पहले से शायद खुश था···इसलिए सिर्फ बैरे की तरफ देखा और ऐसे नजरें हटा लीं मानो

कह रहा हो…'चलो मुआफ किया…।' बैरा शायद सचमुच जानना चाहता था 'तीसरा विश्व युद्ध होगा या नहीं…' उसने और प्रतीक्षा की कि मुहम्मद अली कोई स्टेटमेंट दे पर मुहम्मद अली का ध्यान विश्वयुद्ध से बिलकुल हट गया था। वह उससे किसी बड़े मक़सद की कोई बात सोचने लगा था, या शायद नशे ने उसे घेर लिया हो। बैरा निराश होकर दूसरे टेबल से क्राकरी हटाने लगा…जहां अभी अभी एक विदेशी जोड़ा आकर बैठ गया था…अचानक शबीर को याद आया दो वर्ष पहले भी मुहम्मद अली ने किसी से ऐसे ही पूछा था…और उस रोज शबीर को लगा था कि उसके घर पहुंचने पर सारा विश्व युद्ध की आग में भस्म हो चुका होगा…मुहम्मद अली ने सबसे चिल्ला-चिल्लाकर कहा था…सिर्फ पन्द्रह मिनट…बस… पन्द्रह मिनट में सारा संसार नष्ट होगा…सब कुछ होगा पर आदमी नहीं रहेंगे…ये शहर… ये मकान सब यूं ही होगा पर यहां रहने वाला कोई न होगा…जानते हो…समझते हो… और वह बहुत भयभीत होकर खामोश हो गया था…किसी ने उसकी बात का जवाब देना मुनासिब नहीं समझा था…आज अचानक यह सवाल फिर से पूछे जाने पर शबीर को लगा मुहम्मद अली का प्रेत कहीं से आकर बोलने लगा हो…जैसे सब खत्म हो चुका है और वे सब प्रेतों की तरह हो गये हैं…और उसकी जेब में सिर्फ एक खत बचा है जिसे अब वह पढ़ना भी नहीं चाहता…वह विश्वयुद्ध के भावी सर्वनाश से घबराये मुहम्मद अली को नीम ऊंघते देख रहा है।

तीस दिसम्बर…

'आप क्या लेंगे साहब'…बैरा शायद अब दिन भर की थकान से टूट चुका है इसलिए ऐसे पूछ रहा है, जैसे कह रहा हो…यदि आप घर तशरीफ ले जाते तो हम दोनों का कितना बड़ा हित होता…आपके पैसे बचते और मुझे आराम मिलता…!

'वन लार्ज…साथ में सोडा और कुछ खाने को…' निराशा से बैरा फिर किचेन में घुसता है और शबीर की निगाहें फिर कैलेण्डर पर जम जाती हैं। तीस दिसम्बर बराबर अपनी जगह अटका हुआ पड़ा है। सबसे अलग-थलग…जैसे उससे किसी को कोई सरोकार नहीं फिर भी अगर वहां वह न हो तो सब यकायक चौंक उठेंगे…जब तक वह है तब तक उसे कोई नहीं देखेगा…सब जा ते हैं वह है…जब नहीं होगा…लोग उसे मांगना शुरू करेंगे…कहां है…तारीख कहां है…अब शबीर फैसला नहीं कर पाता कि उसका होना उचित है, या न होना…शायद न होना…अधिक हितकर होता…वह आराम से पड़ा रहता…लेकिन अब वह वैसे नहीं रह सकता क्योंकि वह जान गया है कि आज तीस दिसम्बर है…

बैरे ने अपने व्यावसायिक अन्दाज से ट्रे में से एक लार्ज पेग, एक फ्राई कांती और एक सोडा की बोतल शबीर के मेज पर रख दी फिर आधा झुककर अदब से पूछा…"कुछ और हुजूर?" न जाने क्यों शबीर को लगा उसका मजाक उड़ाया जा रहा है…उसे बैरे पर बहुत गुस्सा आया…और चढ़ी हुई आवाज में बोला, 'ठीक है…रहने दो…।' बैरा सम्हल-सा गया…कहीं उसने कोई गलती तो नहीं की…फिर साहब यूं ही कैसे गर्म हो रहे हैं…? "वैसे भी कहां पता चलता है इन लोगों को क्या चाहिए…न जाने क्यों सबके सब हमसे ही कुढ़े रहते हैं? रहते हैं तो रहने दो…अपना क्या जाता है…टिप तो देगा ना फिर भी—"

गिलास हाथ में लेकर शबीर कुछ देर रुका…उसका निश्चय बिलकुल टूट चुका था—वह जैसे किसी अन्य आदमी को पिलाने के लिए गिलास हाथ में थामे हो…एक ऐसा आदमी जो उसका जरा भी आत्मीय नहीं…!

कल इकतीस दिसम्बर है—उसका जन्म दिन—और वह पूरे इकतीस साल पार कर चुका होगा—अगर वह किसी जगह खड़ा होकर इन इकतीस सालों को पीछे मुड़कर देखना चाहेगा तो उसे कैसा लगेगा—जैसे वह जहां खड़ा हो गया है बस उतना ही हिस्सा दुनिया में धरती है बाकी न कहीं आगे कुछ है न पीछे—आगे की खाई—या खालीपन तो सम्भावित हो सकता है लेकिन पीछे मुड़ते ही अपना सारा पिछला पथ ओझल हुआ देखना—कुछ भी नहीं एक पग चिह्न भी नहीं—ओफ ! उसकी आंखों में अबकी बार कड़वाहट नहीं थी—हलका-सा गीलापन था—जो आंखों में ही समाकर जल्दी से जज्ब हुआ। उसे लगा किसी ने उसके गले में कुछ ऐसा बांध दिया है कि उसके लिए सांस लेना मुश्किल हो रहा है। वह यकीन नहीं करना चाहता कि जिन्दगी के पूरे तीस वर्ष वह बिता चुका है। वर्षों के अनुपात से अपने आपको देखने पर उसे और भी मायूसी होती है—वह इस तरह जीने के लिए नहीं बना था—जैसे एक दरिया में तैरते हुए उसका आधा शरीर गल गया हो और आधा पानी पर तैर रहा हो—समाप्त हो रहा हो—जब वह आंखों तक समाप्त होगा—और सारी प्रलय के देखने को बची होंगी पानी पर तैरती दो आंखें।—वह हैरान हो रहा है कि आज तक इस तरह वह क्यों नहीं सोच सका—अचानक उमर गंवा बैठने का यह अहसास उसे क्यों हुआ—उसका पिता सिर्फ पैंतीस साल की उम्र में मरा था—'पैंतीस साल मुझसे चार साल और ज्यादा—यानी अगर मैं दो साल पहले मरा तो—मैंने—ओफ ! अगर मैं सवेरे मर गया तो—जैसे मेरा जन्म हुआ ही नहीं था—दो और बच्चे यतीम होंगे—फिर उन्हें बाप का अता-पता मिलेगा—वे मेरे बारे में सोचेंगे—राहील बड़ा होगा—तब मेरी ही तरह—नहीं—मैं इस शहर में रह रहा हूं—राहील है—रुखसाना है—मुझसे दोनों बच्चे प्यार करते हैं—मैं मर नहीं सकता—मैं अभी पचास वर्ष और जिऊंगा—और असली उमर तो तीस के बाद ही शुरू होती है—ठीक है शादी हो गई थी मेरी···अगर नजमा मर गई होती—तो क्या मैं—?—तलाक हुआ है न हमारा···तलाक ही तो हुआ है—तलाक···

मुहम्मद अली कुर्सी से लड़खड़ाते हुए उठने का प्रयत्न करने लगा। उठते हुए उसकी कमर हमेशा थोड़ी झुकी होती है—उसका दाहिना कंधा थोड़ा नीचे को सरका होता है और उसकी गर्दन एक खास जाविये पर हिलती रहती है। वह बड़े सभ्य ढंग से 'बाथ' में घुसकर अन्दर से चिटखनी चढ़ाता है और दस बीस मिनट लेकर बाहर आता है—इस बीच उसे कोई डिस्टर्ब नहीं करता—सब आपस में समझ जाते हैं—किसी को परेशानी भी नहीं होती—जो नया आया हो वह दूसरों से खुदबखुद सीख जाता है—इसी आसानी, इसी समझदारी से लोग सब कुछ निबाह क्यों नहीं लेते—?

'मैं अपने परिवार के प्रति लापरवाह हूं।' 'परिवार—?' वह सोचने लगा—गले में दो भारी पत्थर लटकाकर चलते रहना—किसी से शिकायत न करना—पर शिकायत उसने किस से की···? उनकी मां से भी तो नहीं, जो अपने सुख की खातिर जीना जानती है। 'बच्चों की खातिर एक रोज वह तुम्हारे पास लौट आएगी—' जबीना लोक-व्यवहार के तकाजे और तजरुबे का सहारा लेकर शबीर को ढारस बंधा रही थी—और उसके होंठ अपने ही झूठ का बोझ बर्दाश्त नहीं कर पा रहे—वह शबीर के ममत्व का दर्द जानती है—उसमें दिखावा नहीं था—दुनियादारी का गुर वह नहीं जानता था और नजमा इस चीज को आदमी का अवगुण और नाकाबलियत मानती थी—थोथे प्यार पर क्या जिन्दगी निभ सकती है—नहीं निभती ना...फिर क्या पैसे के बूते लोग जीते हैं? तो मुहम्मद अली—इतना मालदार

होकर इस तरह कंगाल क्यों है ? हमेशा एक फर्जी जंग की दहशत से वह क्यों डरा और सहमा रहता है—?

लोग हर चीज को जैसे संजीदा होकर देखना, सोचना और जीना चाहते हैं···शायद वैसा कुछ नहीं होता···शायद बहुत लापरवाही की तरह बहुत एहतियात भी कभी-कभी गलत नतीजों की ओर ले जाती है। एक बार बस एक बार उसका जीना उसके बस से बाहर हो जाता इतना कि उसे अपना सामना इस तरह न करना पड़ता कि वह तीस दिसम्बर को देखकर कहीं भी किसी भी रूप में कुछ खो न देता···

'क्या बजा है हुजूर'···बैरे ने आकर उसकी सोच को एक विराम पर ला खड़ा किया··· उसने बैरे के चेहरे की ओर देखा···उसमें याचना के स्थान पर चिंता का भाव था जो उसके समय पूछने के लहजे से भिन्न था···

'शादी हो गई है तुम्हारी···?' शबीर ने समय न बताकर सवाल पूछा···

'हां, हुजूर···' बैरा अपने जवाब का मकसद टटोलने लगा/शबीर को बैरे से हमदर्दी होने लगी···एक ऐसे आदमी की हमदर्दी···जो कहीं अपने प्रति अधिक होते भी दूसरों के प्रति दर्शायी जाती है।

'ग्यारह बज चुके हैं···तुम्हारा वाल क्लाक खराब लगता है···' शबीर ने कलाई पर बंधी घड़ी को देखकर कहा···और घड़ी की ओर ही देखता रहा··· छोटी सुई सेकेंड की··· परिक्रमा···मिनट की···घंटे···की···बन्द दायरे में घूमता हुआ मानव इतिहास कल्पना का सत्य पर आरोपन···कि खत्म होते-होते सब नया बन रहा है···जो चक्कर पूरा हुआ वह दोबारा नहीं होगा—उसी राह से चलते हुए भी, सब कुछ वैसा ही होते हुए भी कुछ भी वैसा नहीं रहता···सब खत्म होता जाता है··मिटता जाता है···

'शुक्रिया हुजूर— आपने सही फरमाया—यह कलॉक थोड़ा पुराना पड़ गया है—''

बैरे ने सफाई पेश की—कलॉक पुराना पड़ने से समय बदल नहीं सकता···क्लॉक रोक दो फिर भी कुछ नहीं रुकेगा···दरअसल मैं दकियानूसी बातें सोचने लगा हूं···जाने क्या हो जाता है मुझे—कभी-कभी बड़ी घिसी-पिटी—आवारा मुसटण्डों की तरह सोचने लगता हूं···बराबर मवाली-सा हो जाता हूं···शबीर को अपने आपसे और घिन्न होने लगी···

'शादी कब हुई थी तुम्हारी···' पास ही सोफे के सहारे खड़े हुए बैरे से उसने पूछा।

'इसी साल सॉब'—बैरे की आंखों में एक खास चमक उभर आई और उसके हाथ अनायास आगे-पीछे हिलने लगे।

'बीवी से बहुत प्यार करते हो—बैरा थोड़ा हिचकिचाया लेकिन फिर बोला—'बहुत तो क्या कह सकते हैं थोड़ा-बहुत तो कर लेते हैं···गुजारे जितना···'

शबीर को अब कुछ नहीं पूछना पर बैरा चुप नहीं रह सकता था—'आपके मेम सा'ब नई हैं ?···'

शबीर इस बात का कोई जवाब नहीं देता···फिर सोचने लगता है।

मेहर की रकम···

तीस हजार सिक्का—

राइज-उल-वक्त···

मन्जूर है

मन्जूर है—

तीस हजार क्या चीज है, नजमा जान भी मांगती तो वह भी मेहर में लिख देता···

'नहीं शब्बीर यह तुमने ठीक नहीं किया···

जबीना !

मैं सच कहती हूं···

मैं भी सच कहता हूं जबीं, नजमा जिस रोज मुझ से अलग होने की बात सोचेगी मैं अपनी जान दे दूंगा—सब कुछ छोड़ दूंगा उसके लिए···

शबीर ने जेब से रूमाल निकालकर आंखें साफ कीं···उसकी नाक भी बहने लगी थी और बैरा साहब में यकायक आई इस तबदीली से परेशान होने लगा था।

'साब हमारी बात का बुरा माना···कुछ गलती हुई हो तो···' बैरा की समझ में कुछ नहीं आ रहा था···आस-पास बैठे लोग अपनी मस्ती में गुम थे

दुनिया जिसे कहते हैं जादू का खिलौना है

मिल जाये तो मिट्टी है खो जाये तो सोना है—

रेडियो से यह गाना बज रहा था—और सारा वातावरण मिट्टी और सोने की आंख-मिचौली से भरपूर लग रहा था—विदेशी जोड़े को छोड़कर सब लोग यह गजल कहीं किसी तरह अपने अनुरूप समझ रहे थे। विदेशी जोड़ा बातों में बहुत व्यस्त था। लड़की ने कश्मीरी वूल का मोटा स्वेटर और टोपा पहना था और लड़का कशमीरी चोगा पहने था— लड़की कभी-कभी आवेग में आकर लड़के के होंठों तक अपने होंठ ले जाती— वह उसे अपने होंठों से हलके छूकर अपनी जगह लौटता—दोनों प्रत्यक्ष से कटे अपने किसी संसार में खोये थे—एक ही छत के नीचे उन्होंने अपनी अलग दुनिया बना ली थी और उन्हें अन्दर किसी की भी उपस्थिति का बोध नहीं था।

'यह तय है कि आज के बाद हमें संयोग ही मिला सकता है।' लड़की ने लड़के से कहा···

'हां, क्योंकि हम ऐसा खुद चाहते हैं—' लड़के ने शराब का गिलास मेज पर रखकर उसका हाथ अपने हाथ में लेकर कहा···

'हम—?—' लड़की ने अविश्वास से पूछा।

'तब फिर—?' लड़के ने जैसे नए सिरे तलाशना शुरू किये हों।

'तुमने इस बारे में मुझसे पहले कब पूछा था—' लड़की लगभग रुंआसी हो गई थी—और भीतर से सम्हलने का प्रयत्न खो रही थी···

'पूछने की जरूरत क्या थी—तुम पेरिस जाओगी और मुझे केलिफोरनिया जाना है—बात साफ है तुम्हें अपने पति के पास जाना पड़ेगा···उसने इस बात की ताकीद ही नहीं तुमसे गुजारिश भी की है—और मैं अब इस योग-वोग से ऊब चुका हूं—भारत में मेरा रहना भी अब सम्भव नहीं—मैं अपने देश वापस जाना चाहता हूं···"

'क्या यह मुमकिन नहीं—'

'कि मैं पेरिस आ जाऊं···'

'हां ! एक बार मेरे पति से मिल लो—'

'यदि ऐसा संयोग हुआ तो··'

'यह गलत है···तुम हर बात संयोग पर क्यों छोड़ देते हो ?'

'जिसे चाहते हुए भी करने की स्थिति में नहीं होता उसे मैं अक्सर संयोग पर ही छोड़ देता हूं···'

शबीर संयोग पर नहीं जी सकता···गिलास कांच का हो तो जरा भर हाथ से गिरते ही टूट जाता है···लोहे का हो तो कभी नहीं टूटता···पर गिलास कांच का जंचता है—और उसे टूटना है···शबीर अपनी जगह से उठकर हॉल के बीच में रखी बुखारी के नजदीक आ बैठा। बुखारी के पास आते ही उसके हाथ बुखारी की ओर उठ गये—वह यकायक सोचने लगा कि बुखारी से दूर रहते समय एक हाथ कोट की लिफाफे वाली जेब में बराबर रहा था—यहां आकर दोनों हाथ—बुखारी के आगे हो गये···शायद जिन्दगी में बहुत-सी बातों पर ऐसे ही वश नहीं रहता···बाहर की दुनिया भीतर की दुनिया को इसी तरह बदलती रही है। और भीतर की दुनिया ?···अपने बदलने के साथ-साथ बाहर को भी बदलती है···तो फिर किसे बदलना चाहिए—भीतर को या बाहर को···शायद जहां जरूरत हो— हां ! जैसे बाहर ठंड होती है तो भीतर भी ठंड लगती है···और इस ठंड को दूर करने के लिए आदमी बाहर आग जलाता है···

लेकिन तीस दिसम्बर···'क्या मैं इसे बदल सकता हूं···किसी हाल में क्या मैं अपनी जिन्दगी को तीस दिसम्बर के बराबर बदल सकता हूं···जो आग जल चुकी है···भस्म हो चुकी है···वह फिर···?···कौन कहता है कि इतिहास में कोई मनुष्य बचा है ? किसने लिखा है अमरत्व का खोखला गीत···यह मैं कहता हूं कि इतिहास पुरुष···हमारे बीचहै ? वह स्वयं कहां है···सिर्फ मैं हूं···बस जितनी देर सिर्फ उतनी ही देर···बाद में···जो कुछ है उसका मैं अमूर्त हिस्सा जितना होऊं, हो सकता हूं···पर वह मेरे लिए कहां है···और जो मेरे लिए नहीं है उसके लिए मैं कहां···

कोई होता···जो···कुछ न कहता सिर्फ इतना कहता कि आज तीस दिसम्बर नहीं है—हम अब समयहीन हो गये हैं—अब किसी भी पल की कैद नहीं है—आदमी जहां चाहे जिस समय चाहे···समय नहीं—कभी नहीं···पर यह सच है कि कल मेरा जन्म दिन है···जो मैंने सात साल से नहीं मनाया और जिसे सिर्फ बिजली के शॉक की तरह महसूसा है—जबीना मनाती है मेरा जन्म दिन—नये साल की शुभकामनाओं वाला उसका मखसूस कार्ड···काम्य लिफाफे में मुझे ठीक जनवरी की पहली तारीख को मिलेगा—

'प्यारे शबीर—

नया साल हम सबके लिए शुभ हो

तुम्हारी, जबीना'

फिर ख़त होगा,

'प्यारे शबीर—

तुम्हारे जन्म-दिन पर घर में खुशी की जगह मायूसी और उदासी का हर साल वाला समां बना रहा···सब लोग तुम्हें बहुत याद करते हैं—मैं पहरों आंगन में बैठी ठंड में ठिठुरती रही···जाने कैसे मान बैठी कि तुम वैसे ही आओगे और मुझे मनाकर भीतर ले जाओगे···कहोगे···खैर ! बाद में मुझे कितना पछताना पड़ा···शायद इससे अधिक हमारी नियति हो नहीं सकती···शायद तुम्हारा कहना सही है···हम रहते हुए भी नहीं रह पाये हैं···एक गुजारिश की थी तुमसे, फिर करूंगी···ख़त लिखना क्यों बंद किया ? खुदा गवाह है तुम्हारा

ख़त पाकर मुझे कितनी तसकीन मिलती थी···जो भी हो···एक लफ्ज़ ही लिख डालो—

—कमअकल जबीना

शबीर के गुर्दे दर्द करने लगे हैं। इस दर्द से वह बेहद परिचित है···जान लेवा स्थिति—घर तक पहुंचते-पहुंचते वह एक लाश में बदल गया होगा···राहील और रुख़साना···दो प्यारे फूल उसे सम्हालेंगे···शुरू-शुरू में इस दर्द का इलाज उसने डॉक्टरों से करवाया था, पर शीघ्र ही उसे लगा था कि इलाज के नाम पर वह बेवकूफ बनाया जा रहा है···।

बीमारों की लम्बी कतार में वेटिंग रूम में बैठे-बैठे उसका दम घुटने लगता—चालीस रुपये फीस देकर भी डॉक्टर चालीस सेकेंड से ज्यादा मुआयना न करता—

"कहां दर्द करता है···यहां···इधर···अच्छा···ठीक हो जायेगा कोई फिक्र नहीं···जस्ट ड्रिंक करना छोड़ दीजिए···स्मोकिंग भी···कुछ देर तक···यह दवाई लीजिए···परहेज़ ?···टमाटर···और खट्टी चीज़ खाना बन्द···बाकी जो जी में आये···जस्ट एवाइड सच थिंग्स जिस से दर्द होता हो···तुम जवान हो···ठीक हो जाओगे—।"

दवाई लेता रहा शबीर। शराब भी नहीं पी। और डॉक्टर भूल गया कि मरीज़ था—होगा···या नहीं···उसके पास वैसे ही कतार-दर-कतार लोग बंधे रहे और वह अपने मेडिकल रेप्रेसन्टेटव···या कम्पनी के सेल्स मैन के मशवरे पर दवाइयां बांटता रहा—दर्द का इलाज करता रहा—

"तुम्हें इस तरह घबराकर ज़िन्दगी नहीं गुज़ारनी चाहिए। ज़रा अपने आप को फ्री करना चाहिए···यह न खाओ वो न खाओ···मिस्टर शबीर···यह एक मनोवैज्ञानिक समस्या है···तुम्हारे गुर्दे बिलकुल ठीक हैं—।"

कुछ देर के लिए शबीर को लगा डॉक्टर सही कह रहा है—आखिर दुनिया इतनी तरक्की कर चुकी है···यह एक्सरे की मशीन झूठ तो नहीं बोल सकती···लेकिन दिन-ब-दिन उसका दर्द बढ़ता गया—डॉक्टरों के मुआयने और नुस्खे और दवाइयों के दौर भी बढ़ते गये—आखिर एक दिन इस सबसे तंग आकर शबीर ने दर्द के साथ समझौता किया—और उसको अपना लिया—बिलकुल उसी तरह जिस तरह वह और बातें अपनाता आया है···

बार के गिलगिले वातावरण में वह बिलकुल भीग चुका था—शायद बुखारी ज्यादा तेज़ हो चुकी थी। शायद वह भीतर से और कमज़ोर हो चुका था···उसने बैठे-बैठे – उस जगह को देखा जहां उसका आधा भरा गिलास···कान्ती के टुकड़े···सलाद की प्लेट, सोडा की खाली बोतल और उसके होने का या रहे होने का अक्स मौजूद था—धीरे-धीरे यह सब हट जायेगा—बैरा आकर टेबल पोंछ देगा···सोफे में पड़ा उसका शरीर—वहां नहीं होगा—सब कुछ फिर से ताज़ा दिखेगा – और नया आया हुआ ग्राहक इस जगह में उतनी ही आत्मीयता तलाशेगा—जितनी शबीर अभी तक ढूंढता रहा है या पा चुका है ? उसे शायद अनुमान भी न होगा कि यहां इसी टेबुल पर एक जिन्दगी देखते-देखते बासी हो गई।

सात साल में ज़िन्दगी आदमी को इतना अकेला कर सकती है - सिर्फ सात साल—सात दिन—सात—और उसका एक हमदर्द है जो लफ्ज़ तराशना जानता है—टुकड़े-टुकड़े शब्द भेजकर उसके ज़ख्म सहलाता है—ख़त उसने बुखारी की मौन लपटों पर डाल दिया और लपटों पर उसका बचा हुआ काला शरीर देखने लगा—सिकुड़ा हुआ काला धब्बा—जो कहीं उसके भीतर हमेशा बना रहता है। जहां शब्दों के अक्स साफ दिखते हुए भी पहचाने नहीं जाते फिर भी एक अर्थ स्पष्ट बना रहता है—वह खुश होकर जीना चाहता है—आग में सब

कुछ झोंककर भी यह काला आकार बाकी क्यों बचता है—?

वह इस कालिख से दूर एक ऐसे फासले पर बैठना चाहता है जहां इस काले दायरे में वह कैद न हो···

बैरे को भारी टिप देकर एक बार फिर सारे बॉर को देखता है···निकलने वाले दरवाजे पर खड़े होकर···आगे एक फासले पर उसके ठीक सामने वाल मिरेर में सारा बार एक श्मशान की तरह सुलग रहा है – वह आईने में अपने को दूर सबसे अलग देखकर थोड़ा खुश होता है और झट से दरवाज़ा खोलकर बाहर आता है—ठंडी दिसम्बर की रात···सब कुछ जैसे जम गया है···मकान, खिड़कियां, रोशनियां सब जैसे जाम हो गया है···सिर्फ वह अपने तेज उठते कदमों की आवाज़ सुन रहा है···जो डिफेंस कालोनी की ओर बढ़े जा रहे हैं···जहां राहील और रुखसाना बेफिक्र सो रहे होंगे—एक निश्चित सीमा तय करके शायद उन्होंने जीने की संभावना पा ली होगी··· □

समकालीन आलोचना की निरर्थकता

☐ डॉ० रामदरश मिश्र

हिन्दी में आलोचना की स्थिति बड़ी शोचनीय है। यह कहना कठिन है कि आज की आलोचना आज की सर्जनात्मकता को कोई सहयोग दे रही है। हमें नहीं लगता है कि कोई अच्छी रचना आलोचना का आलोक पाकर बनी हो या बन रही हो। आज की आलोचना के कई रूप हैं—

१. वह आलोचना जिसमें रचना की सही पहचान ही नहीं उभरती है। इसका कारण आलोचक का नासमझ होना हो सकता है। दरअसल हिन्दी में ऐसे आलोचक बहुत कम हैं जो आलोचना के सही औजारों से लैस हैं। इसका खास कारण यह है कि सर्जनात्मक साहित्य का प्रणयन विपुल मात्रा में हो रहा है और तमाम छोटी-बड़ी पत्रिकाएं उनके मूल्यांकन के लिए पुस्तक-समीक्षा का स्तंभ खोले हुए हैं और पत्रिकाएं जिस-तिस को पुस्तकें थमा देती हैं और ये 'जिस-तिस' लोग रचना की केन्द्रीय समझ और आलोचना के अनुशासन से गुज़रे बिना ही पुस्तक पर जो मन में आता है लिख मारते हैं। इसमें पत्रिकाओं को दोष नहीं दिया जा सकता क्योंकि इतनी पुस्तकों की समीक्षा के लिए आखिर बहुत से समझदार समीक्षक कहां से प्राप्त हो सकते हैं? इस ऊहापोह के बीच कुछ अच्छी समीक्षाएं भी आ जाती हैं। ऐसी अराजक स्थिति में लेखक को यह पता ही नहीं चलता कि उसकी पुस्तक की वास्तविक स्थिति क्या है? उसका सही मूल्य क्या है? एक व्यक्ति उसे एकदम मूल्यहीन कह देता है तो दूसरा अत्यधिक मूल्यवान। इन समीक्षाओं के आलोक में यदि कोई लेखक अपनी सर्जना के लिए रास्ता टटोलना चाहे तो नहीं टटोल सकता। वह अपने को अंधेरे के एक जाल में फंसा हुआ पाता है।

२. दूसरा रूप वह है जिसे हम गिरोह की आलोचना कह सकते हैं। आलोचना का यह रूप ज़्यादा भयानक और भ्रष्टकारी है। इस प्रकार की आलोचना अधिक विनाशक इसलिए है कि इसके आलोचक प्रायः तेज-तर्रार और प्रबुद्ध होते हैं। वे साहित्य को समझते तो हैं लेकिन उस समझ का इस्तेमाल एक ख़ास 'स्ट्रेटेजी' के तहत करते हैं। उनकी प्रबुद्धता जितनी साहित्य के क्षेत्र में होती है उससे अधिक जोड़-तोड़ के क्षेत्र में होती है यानी वे अपनी समझ का इस्तेमाल एक ख़ास गिरोह के पक्ष में तथा अन्यों के विपक्ष में करते हैं। यह गिरोह वाद व्यावहारिक स्तर का भी हो सकता है और राजनीतिक पार्टी के

स्तर का भी। जैसे नई कहानी के आन्दोलन के समय राजेन्द्र यादव, कमलेश्वर और मोहन राकेश ने एक दल बनाकर अपने को और एक-दूसरे को खूब उछालने की कोशिश की। इनके साथ कुछ और लोग भी जुड़े लेकिन वे हाशिये पर थे। यह व्यावहारिक स्तर पर सक्रिय आलोचना गिरोह का एक ज्वलंत नमूना है। बाद में कमलेश्वर ने समान्तर आन्दोलन के माध्यम से इसे और विकसित किया। इस प्रकार के छोटे-छोटे उनके गिरोह हिन्दी आलोचना में दिखाई पड़ सकते हैं।

राजनीतिक पार्टी के स्तर पर सर्वाधिक सक्रिय गिरोह मार्क्सवादी लेखकों और आलोचकों का है। दरअसल ये लेखक और आलोचक मार्क्सवाद से प्रभावित राजनीतिक दलों के सदस्य हों और जनता के लिए कुछ करते हों यह आवश्यक नहीं, बस मार्क्सवादी होने का भ्रम पैदा कर दें, इतना ही काफ़ी होता है। इस भ्रम-मण्डल से जुड़े आलोचक आंख मूंदकर अपने लेखकों की प्रशंसा और दूसरों की धुनाई करते हैं। इनके सामने साहित्य का सौन्दर्य-मूल्य नगण्य होता है। मार्क्सवादी कहे जा सकने वाले विषय और निष्कर्ष ही मुख्य होते हैं। अर्थात् ये यह देखते हैं कि अमुक कविता या कहानी या उपन्यास में आम जन का जीवन लिया गया है क्या? (भले ही वह अनुभव-बिम्बों के रूप में न होकर तथ्यात्मक विवरण के रूप में हो) और फिर यह देखते हैं कि वह रचना सर्वहारा की विजय के पक्ष में साफ-साफ निष्कर्ष देती है क्या? यदि इतना है तो पर्याप्त है। मार्क्सवादी आलोचकों में डॉ० नामवरसिंह अलग पड़ते हैं, इसलिए कि उनकी बुनियादी 'एप्रोच' सौन्दर्य-मूल्यवादी है। वे रचना की केन्द्रीय छवि को गहराई से पकड़ते हैं लेकिन वे घोषित मार्क्सवादी भी हैं इसलिए दूसरी ओर उन रचनाओं की भी पक्षधरता करने लगते हैं जो सपाट हैं किन्तु मार्क्सवादी फार्मूले के आसपास हैं। नामवरसिंह इन दोनों ही 'एप्रोचों' के बीच तालमेल नहीं बैठा सके और एक अजीब द्वन्द्व में उनकी आलोचना उलझी हुई रह गई। डॉ० रामविलास शर्मा अपनी इधर की आलोचनाओं में मार्क्सवादी फार्मूलों के आग्रह से मुक्त तो हुए लेकिन उनकी यह मुक्ति केवल निराशा के सन्दर्भ में दिखाई पड़ी। इन दिनों वे किसी और तरह के लेखन में व्यस्त हो गए। मार्क्सवादी आलोचना वास्तव में सौन्दर्य के एक नये, बड़े और मानवीय आयाम की सौन्दर्य दृष्टि वाली आलोचना है किन्तु हिन्दी के मार्क्सवादी आलोचक मार्क्सवादी सौन्दर्य दृष्टि की बात तो करते हैं, आलोचना के समय उसका प्रयोग नहीं करते। इसलिए उन्हें 'मैला आंचल' की अपेक्षा 'बलचनमा', 'राम की शक्ति पूजा' की अपेक्षा 'कुकुरमुत्ता' पसन्द आता है। इसी तरह उन्हें उनके दल से न जुड़े हुए अच्छे कवियों की अपेक्षा उनके दल के घटिया सपाट कवि पसन्द आते हैं। कविता के क्षेत्र में नन्दकिशोर नवल और कथा के क्षेत्र में मधुरेश इस प्रकार के आलोचकों के दृष्टान्त हैं। ये दो नाम मैं इसलिए ले रहा हूं कि इनमें अच्छी आलोचना लिखने की सम्भावनाएं हैं लेकिन उसे ये अपनी आग्रही दृष्टि से स्वयं दमित कर रहे हैं।

(३) आलोचना का एक रूप वह भी है जिसे तेज-तर्रार आलोचना कहा जाता है। ऐसे आलोचक यह जानते हैं कि गंभीर ढंग से गंभीर चिंतन को व्यक्त करने का रास्ता बहुत लंबा है। एक लंबी साधना के बाद आलोचक लोगों का ध्यान आकृष्ट करता है। इसलिए कुछ आलोचक बनने के आकांक्षी लोग इस लंबे मार्ग का परित्याग कर छोटा मार्ग ग्रहण करते हैं यानी वे आंधी पानी की तरह धूम-धड़ाका करते हुए आलोचना जगत में प्रवेश करते हैं। इनका मुख्य कार्य होता है प्रतिष्ठित लोगों की रचनाओं की तोड़-फोड़ करना। वे इस तोड़-फोड़ के लिए कुछ चुस्त फिकरे कुछ व्यंग्यात्मक पद्धतियां अख्तियार कर लेते हैं और अपनी आलोचना को

चटपटा बनाकर साहित्य जगत को परोस देते हैं। ऐसे आलोचकों को संयोग से किसी अच्छी पत्रिका का कॉलम मिल जाए तो फिर क्या कहना ? ऐसे आलोचकों की उम्र बहुत थोड़ी होती है। विष्णु खरे ऐसे आलोचकों के सबसे बढ़िया नमूना हैं। उन्हें **आलोचना** में पुस्तक-समीक्षा का कॉलम क्या मिल गया उनकी मति ही बौरा गई और वे अनेक प्रतिष्ठित और नये रचनाकारों की कृतियों की धुनाई करना ही आलोचना-कर्म समझ बैठे और भीतर-भीतर यह अहंकार पाल बैठे कि जिसको चाहें बना-बिगाड़ सकते हैं। आलोचना का स्तंभ छिनते ही पता नहीं कहां लुप्त हो गये। यह प्रवृत्ति कमोबेश बहुत से आलोचकों (विशेषतया अपने को मार्क्सवादी कहने वाले आलोचकों) में दिखाई पड़ती है। जाहिर है ऐसी आलोचना नवीन सर्जना को प्रभावित नहीं करती और यदि करती भी है तो बहुत बुरे अर्थ में।

हमारी आलोचना की एक विडंबना यह भी रही है कि वह साहित्य को पीढ़ियों में बांट कर देखने की आदी है। ठीक है, समाज में बदलाव आते हैं, नई पीढ़ियां आती हैं। बदलाव को वे पहचानती हैं, लेकिन सतत् लेखन की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ पिछली पीढ़ी का साहित्यकार भी उस बदलाव को पहचानता है किंतु हमारी आलोचना विशेष दशक में उभरने वाले नये साहित्यकारों को ही उस दशक का साहित्यकार मान लेती है। यानी साहित्य को दशकों में बांटने, दशकों को उन दशकों में उभरने वाले साहित्यकारों से ही सम्बद्ध करने की प्रक्रिया से गुजरने वाली आलोचना नितनवता को तो रेखांकित करती है लेकिन एक लंबी साधना से उत्पन्न होने वाली रचनात्मक उपलब्धिमूलकता को नज़र अन्दाज कर जाती है। एक लेखक यदि अपनी पीढ़ी के लोगों के बीच महत्त्वपूर्ण लेखन करने से रह गया और बाद की पीढ़ियों के साथ उसने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेखन किया तो वह न अपनी पीढ़ी के साथ चर्चित होता है और न नई पीढ़ी के साथ क्योंकि हमारी आलोचना पीढ़ियों का इतिहास लिखती है, साहित्यिक उपलब्धियों का नहीं।

सार्थक आलोचना के लिए यह आवश्यक है कि वह सामाजिक यथार्थ से जुड़ी हुई सौंदर्य-दृष्टि से सम्पन्न हो अर्थात उसके पास एक सौंदर्य दृष्टि हो जो समकालीन सामाजिक जीवन के सघन यथार्थ के दबाव से पैदा हुई हो और मानवीय हो। ऐसी आलोचना एक ओर रचना के कलात्मक सौंदर्य की पहचान करती हुई भी कलावाद का समर्थन नहीं करती (बल्कि निषेध करती है) दूसरी ओर मार्क्सवाद का लेबुल चिपकाए बिना भी अपनी प्रकृति में सामाजिक और मानवीय होती है। ऐसी आलोचना में कोई दलवादी आग्रह नहीं होता है। आग्रह होता है तो इतना ही कि वह रचना को उसके छोटे या बड़े सामाजिक परिप्रेक्ष्य मे रखकर उसके सौंदर्य-मूल्य का आकलन करती है। वह उस रचना को अधिक महत्त्वपूर्ण मानती है जो विराट सामाजिक जीवन के गहरे तनाव से गुजरती हुई जीवन का एक बड़ा रूप पेश करती है तथा जिसकी अन्विति मानवीय जीवन दृष्टि में होती है। यह आलोचना जीवन के छोटे-छोटे बिंदुओं पर निर्मित या कलात्मक चातुर्य से प्रेरित रचनाओं की उपेक्षा तो नहीं करती लेकिन उसे कोई विशेष महत्त्व नहीं देती। उसकी पहचान करती हुई भी उसकी असली हैसियत का अहसास पाठकों को करा देती है। इस दृष्टि और प्रकृति के कुछ नये आलोचक निश्चय ही हमारे बीच हैं। डॉ० नित्यानन्द तिवारी का नाम निस्संकोच भाव से लिया जा सकता है। इस क्रम में और भी कई आलोचकों के नाम लिये जा सकते हैं। ☐

प्रतिबद्धता : स्वरूप और संकलपना

□ डॉ० रामजी तिवारी

साहित्यकार के सामाजिक दायित्व का प्रश्न नया नहीं है। यह साहित्य-सृजन की आरंभिक दृष्टि और दिशा के साथ जुड़ा हुआ एक सनातन प्रश्न है। समय-समय पर रचनाकारों ने अपने-अपने ढंग से इस प्रश्न के उत्तर और समाधान प्रस्तुत किए हैं किन्तु देशकाल के परिवर्तित संदर्भों में इस प्रश्न की प्रासंगिकता निरन्तर बनी रही। पिछले दो दशकों में साहित्य की दायित्व चेतना अथवा प्रतिबद्धता की बात बार-बार उठाई गई है। अनेक शीर्षकों के माध्यम से इसी मुद्दे पर चर्चा होती रही है कि आज साहित्यकार की दृष्टि और दिशा क्या होनी चाहिए, साहित्य की संगति और सार्थकता किस रूप में मानी जानी चाहिए।

इस समस्या पर विचार करने से पूर्व हिंदी साहित्य की प्रवहमान धारा में लेखकीय दायित्व की प्रचलित अवधारणाओं पर दृष्टिपात करना सुविधाजनक होगा। आज के साहित्य में स्थूल रूप से चार प्रमुख दृष्टियों को लक्षित किया जा सकता है—

१. साहित्यकारों का एक वर्ग उदात्त मानवीय मूल्यों में आस्था और निष्ठा रखते हुए अपनी सामाजिक और सांस्कृतिक परम्परा में विश्वास रखता है। वह भावात्मक मानवीय मूल्यों पर आधारित मर्यादावादी साहित्य सृजन के प्रति अपने को प्रतिबद्ध मानता है।

२. दूसरा वर्ग उन रचनाकारों का है जो समाज अथवा किसी भी बाह्य तत्त्व से निर्लिप्त कुण्ठाओं से मुक्त, निर्द्वंद्व भाव से साहित्य की एकांत साधना का समर्थन करते हैं। इनकी मान्यता है कि रचनाकार सृजनात्मक क्षमता उसकी वैयक्तिक प्रतिभा की उपज है और प्राकृतिक रूप से अपनी समस्त विशिष्टताओं के साथ रचनाकार के भीतर बीज रूप में वर्तमान रहती है। इसलिए प्रत्येक रचनाकार अपने अनुभव में विशिष्ट होता है। यह वर्ग आनन्द, सौंदर्य और अपने विशिष्ट अनुभव की अभिव्यक्ति को लेखकीय दायित्व मानता है।

३. तीसरा वर्ग अतिआधुनिक अराजकतावादियों का है जो किसी भी प्रकार के नियंत्रण और अनुशासन को अस्वीकार करते हैं : आज के अतिशय यांत्रिक और गतिशील जीवन में पारंपरिक मानवीय सम्बन्धों के बदल जाने के कारण भावात्मक मूल्यों को यह वर्ग निरर्थक और अप्रासंगिक मानता है। नये मनुष्य और नये समाज की मूल्यप्रक्रिया को प्रतिष्ठित करने के लिए पारंपरिक मूल्यों का विघटन उनके लिए एक स्वाभाविक परिणाम है। किसी भी प्रतिबद्धता

को साहित्यकार के गत्यात्मक विकास में अवरोधक तत्त्व मानने के कारण यह वर्ग अनियंत्रित स्वातंत्र्य और प्रतिष्ठित मूल्यों के आत्यंतिक निषेध का पक्षपाती है।

४. चौथा वर्ग वर्तमान युग के प्रविधिक विकास और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के दबाव से पनपनेवाली समाजवादी साम्यवादी मानसिकता के प्रभाव से साहित्य की ध्येयधार्मिकता का समर्थन करता है। यह वर्ग आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के विरोध के साथ ही व्यक्ति की अनियंत्रित स्वतंत्रता और सामाजिक अराजकता का भी विरोध करता है। यह वर्ग सर्वहारा वर्ग की मुक्ति और प्रगति के लिए होने वाले जन-संघर्ष में सक्रिय सहभाग को साहित्यकार का दायित्व मानता है। यह दायित्व-चेतना अथवा प्रतिबद्धता रचनाकार के आस्थामूलक दायित्व से अलग ऐतिहासिक संदर्भ में राजनैतिक स्तर पर एक सकर्मक बौद्धिक धारणा और सृजनात्मक दबाव है। प्रतिबद्धता की वर्तमान अवधारणा वस्तुतः इसी वर्ग की उपज है। यह वर्ग साहित्य की उपयोगिता, सोद्देश्यता और मूल्यबद्धता की स्वीकृति के प्रति अपने को प्रतिबद्ध मानता है। प्रस्तुत संदर्भ में इसी प्रतिबद्धता का समीक्षण अभिप्रेत है।

साहित्य की प्रतिबद्धता का मूल मुद्दा यह है कि साहित्य का उद्देश्य क्या है? क्या होना चाहिए? साहित्य का लक्ष्य साहित्यानुभव को पाठक तक पहुंचाकर उसके भीतर विश्रांति उत्पन्न करना मात्र है, जैसा कि पुराने रसवादी और आज के सौंदर्यवादी चिंतकों का अभिमत है या साहित्य के माध्यम से प्रचलित अवांछित समाज-व्यवस्था के विरोध में जनमानस के सक्रिय होने की प्रेरणा जगाना है। मार्क्सवादी प्रतिबद्धता जनमानस को संघर्ष के लिए सक्रिय बनाने में ही साहित्य की सार्थकता मानती है। इस संदर्भ में साहित्य के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली मनोदशा पर सूक्ष्मता से विचार करने की आवश्यकता है। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि साहित्यकार अपने पाठक वर्ग में विशिष्ट प्रकार की मनोवृत्तियां उत्पन्न करता है। जीवन विषयक बोध को वह संवेदना के धरातल पर व्यापकता और तीव्रता प्रदान करता है। प्रश्न यह उठता है कि इन मनोवृत्तियों का लक्ष्य क्या होगा! इसका सीधा-सा उत्तर यह है कि यदि प्रचलित व्यवस्था मनुष्य की संभावनाओं को दमित और कुण्ठित कर रही हो तो उसके विरोध में मनोवृत्तियों को जगाना सर्वथा औचित्यपूर्ण होगा। यदि प्रतिबद्ध लेखक संवेदना को जगाने, तीव्र करने और उसको सक्रिय करने के बीच की सूक्ष्म सीमा रेखा को मिटाने का प्रयत्न करता है, उसका साहित्य यदि प्रेरक और मूल्यपरक है तो उसे किस आधार पर अस्वीकार किया जा सकता है। इसका प्रतिवाद यह कहकर किया जाता है कि साहित्यानुभव को विकसित और परिपक्व होने के लिए पर्याप्त अवकाश न मिल पाने के कारण इस प्रकार का साहित्य प्रचार में रूपांतरित हो सकता है। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि साहित्यानुभव को विश्रांति की अवस्था तक ले जाने वाला साहित्य भी मनोरंजन के हल्के स्तर पर उतरकर अपनी गरिमा को खो देता है। अर्थात् खतरे की संभावना दोनों ओर समान है। वस्तुतः साहित्यानुभव के प्रचार होने अथवा हलका मनोरंजन होने का सम्बन्ध प्रतिबद्धता या अप्रतिबद्धता से न होकर रचनाकार की क्षमता से होता है।

जहां तक मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा, प्रतिक्रियावादी शोषक तत्त्वों के विरोध और जनकल्याण के प्रति लेखकीय दायित्व का प्रश्न है, रचनाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता में संदेह का कोई अवकाश नहीं है। प्रत्येक युग का सजग और संवेदनशील रचनाकार संभावना सम्पन्न जीवन सरणियों को प्रतिष्ठित करने के लिए निगतिगामी प्रवृत्तियों का विरोध करता रहा है। प्रश्न तब उठता है जब साहित्यकार से एक विशिष्ट विचारधारा को स्वीकार करके

साहित्य लिखने का आग्रह किया जाता है। साहित्यकार का दृष्टि सम्पन्न होना उसकी रचना धर्मिता का अनिवार्य घटक है किन्तु किसी दृष्टि विशेष तक सीमित हो जाना उसकी सर्वाश्लेषी और बहुआयामी रचनाशीलता के प्रतिकूल है।

दलीय राजनीति के तर्कों पर आधार दृष्टि सदैव ही अपूर्ण और एकांगी होती है। उसकी सामाजिकता की अवधारणा भी सीमित और सापेक्ष होती है। यह दृष्टि फासिज्म की हो या कम्युनिज्म की, साहित्य की संभावना को सीमित करती है। मार्क्सवादी प्रतिबद्धता भी प्रवृत्तिकरण के आग्रह से एक प्रकार की तानाशाही को जन्म देती है जिसके प्रभाव से प्रतिवद्ध रचनाकार बिना अपने सहज विवेक और रचनात्मक अनुभव का उपयोग किए कुछ निश्चित फार्मूलों का चर्वित चर्वण करता रहता है। राबर्ट ग्रेब्ज के अनुसार जो साहित्यकार साम्यवाद के प्रति समर्पित हो जाता है वह अपनी सृजन प्रक्रिया मात्र के प्रति षड्यंत्र करता है।

आज के वातावरण में जीवन के राजनैतिक आयाम के प्रति उदासीनता किसी भी जागरूक व्यक्ति के लिए न तो संभव है और न ही उचित। जीवन के राजनैतिक आयाम के प्रति सजगता के बिना कोई साहित्यकार आज के जीवन का व्यापक चित्रण नहीं कर सकता। किन्तु राजनैतिक जागरूगता का यह अभिप्राय नहीं है कि रचनात्मक साहित्य को राजनतिक तर्कों से नियंत्रित और निर्देशित किया जाये। जब हम साहित्य में राजनैतिक स्थितियों को रचनात्मक अनुभव के रूप में स्वीकार करते हैं तो बलपूर्वक कहना चाहते हैं कि वह अनुभव एकमात्र अनुभव न होकर बहुआयामी संपूर्ण जीवन का एक पक्ष है। प्रतिबद्धता के नाम पर साहित्यकार को जीवन के अन्य पक्षों से हटाकर केवल राजनीति पर केंद्रित करना उसकी संवेदना का पक्षाघात करना है।

अब प्रश्न यह उठता है कि साहित्य की महानता से प्रतिबद्धता का क्या रिश्ता है? प्रतिबद्धता किस रूप में और किस मात्रा तक आवश्यक है? अब तक के महान साहित्यकारों के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि किसी सीमित दृष्टि अथवा सत्ता के प्रति आत्यंतिक समर्पण की अपेक्षा विवेक शासित विचार स्वातंत्र्य ही रचनाकारों के लिए काम्य रहा है। अपने विवेक की आंच में तपाए हुए अनुभव को निष्ठा और विश्वासपूर्वक अभिव्यक्त करने के कारण उसे यातनाएं भी झेलनी पड़ी हैं किन्तु वह न तो किसी का यंत्र बना और न ही यंत्रचालित।

सच्चे साहित्यकार में प्रकृत्या संवेदनशीलता और भविष्यभेदिनी संभावनासंपन्न दृष्टि होती है, जिसके कारण वह पारिवेशिक यथार्थ को अपने रचनात्मक अनुभव में उतारकर एक व्यापक आयाम से जोड़ देता है। अनुभव संवेदना और दृष्टि से संपृक्त उसकी रचनाधर्मिता समग्र मानवता के परिप्रेक्ष्य में विकसित होती हैं। सृजन प्रक्रिया के दौरान समाज और रचनाकार के व्यक्तित्व में सामरस्य के कारण ही उसका व्यक्ति सत्य सहज ही सर्वजन संवेद्य बन जाता है, उसका व्यक्ति सत्य व्यापक सत्य बन जाता है। उससे अलग से सामाजिकता की मांग अनावश्यक है। अपने दुःख-सुख को बांट देने की बेचैनी के पीछे उसकी सामाजिक चेतना ही सक्रिय रहती है। इस प्रकार के साहित्यकार की प्रतिबद्धता आरोपित न होकर उसके आंतरिक अनुभव का अविभाज्य अंग बनकर आती है।

यथार्थ अनुभव और रचनात्मक अनुभव में मूलभूत अन्तर होने के कारण साहित्यकार न तो समाज का दर्पण प्रस्तुत करता है और न ही प्रतिबिंब। उसके भोगने वाले मन और रचने वाली मनीषा की रगड़ से उत्पन्न होने वाला रचनात्मक अनुभव समाज की संभावना को आकार देता है। अनुभव की व्यापकता और जीवन बोध की समग्रता के कारण उसका साहित्य

समसामयिकता की सीमा का अतिक्रमण करके कालजयिता प्राप्त करता है जिसमें प्रत्येक युग का मनुष्य अपनी समस्याओं का समाधान खोजता है और अपने जीवन का प्रत्यभिज्ञान करता है। समसामयिक प्रतिबद्धता श्रेष्ठ साहित्य का प्रमाण नहीं है। एक उदाहरण से बात और साफ हो सकती है। रूसी गृहयुद्ध और विदेशी युद्ध के समय बेद्यानी बेदनी रूस का सर्वाधिक लोकप्रिय कवि था किन्तु थोड़े ही समय में उसकी रचनाएं समय की घटना का पंजीकरण बनकर रह गईं। इसका कारण स्पष्ट करते हुए स्वयं लेनिन ने कहा कि बेदनी पाठक वर्ग का अनुयायी है वह उन्हें आगे नहीं ले जाता। यहां कहा जा सकता है कि मार्क्सवादी प्रतिबद्धता का साहित्य की श्रेष्ठता से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है।

आज के वातावरण में साहित्यकार का संकट और भी बढ़ गया है। जीवन की यांत्रिक मानवीय मूल्यों का निरन्तर विघटन, राजनीति के प्रति बढ़ती अनास्था, परस्पर विरोधी विचारों, प्रतिगामी तर्कों और तनावों के बीच किसी भी दृष्टि के प्रति प्रतिबद्ध होना संभव नहीं है। इन तमाम विसंगतियों के बीच से मानवीय संभावनाओं को खोज निकालना आज के रचनाकार की सबसे बड़ी प्रतिबद्धता है। इसके लिए साहित्यकार को अपने भीतर उतरकर साहित्य के दार्शनिक अर्थ की सही पहचान के साथ मानवीय संघर्ष में अपनी रचनात्मक भूमिका की पहचान करनी होगी। अनिवार्य नहीं है कि व्यक्ति के सहज विवेक और सांस्कृतिक चेतना को नकारने वाली वामपंथी विचारधारा के आधार पर ही शोषण के विरुद्ध वातावरण पैदा किया जाये। साहित्यकार को सीमित उद्देश्य को सामने रखकर जीवन की वैविध्यपूर्ण समृद्धि को नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए। आज साहित्यकार के लिए आवश्यक है कि वह अपने हृदय को मुक्त रखकर, विवेक को जागृत रखकर बिना किसी हठ या दुराग्रह के जीवन के राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सभी पक्षों के प्रति स्वागतशील बने। तथाकथित प्रतिबद्धता से कई गुना महत्त्वपूर्ण है जीवन और परिवेश के प्रति समग्र रूपेण जाग सकता। सर्जनात्मक प्रतिभा का चरम विकास इस समग्र जागरूकता से ही संभव है। संवेदन के प्रति ईमानदारी और आन्तरिक लगाव ही साहित्यकार की प्रतिबद्धता का वास्तविक स्वरूप है। अतः विशिष्ट विचारधारा के प्रति सजगता, प्रतिबद्धता की अपेक्षा समग्र परिवेश के प्रति सजगता, प्रतिबद्धता की आवश्यक शर्त है। आज साहित्यकार को प्रतिबद्ध होने की अपेक्षा दायित्ववान होना अधिक आवश्यक है।

□

□

हिन्दी आलोचना
अपनी-अपनी भेड़ें : अपने-अपने चरागाह

□ डॉ० नरेन्द्र मोहन

अक्सर सुनने में आता है कि आलोचना जिस रूप में आज हमारे सामने है, उस रूप में वह अप्रासंगिक होती जा रही है। न वह साहित्य/साहित्यकार के लिए उपयोगी रह गई है, न वह विचारों के प्रवर्तन में सहयोग दे रही है। आलोचना साहित्य के लिए कैसे उपयोगी हो? उसमें विचारों के प्रवर्तन की शक्ति कैसे आए? मैं विचारों के अनुवर्तन की नहीं, विचारों के प्रवर्तन की बात कर रहा हूं, विचारधाराओं के पालिमिक्स की नहीं, विचारधाराओं से जुड़े मानवीय सरोकारों की बात कह रहा हूं? यह कितना तकलीफदेह है कि सभ्यता, संस्कृति, दर्शन, मानवशास्त्र, समाजशास्त्र की विपुल ज्ञानराशि से हम अचम्भित से दिखते हैं, पर आलोचना में उसके संस्पर्श से घबड़ाते हैं।

आलोचना की मौजूदा स्थिति को देखते हुए कहा जाता है कि ऐसी आलोचना किस काम की? ऐसी आलोचना जो न लेखक को प्रेरित करती है न पाठक को, जो न नये विचार देती है, न नये सुझाव, जो कृति की समझ बढ़ाने के बजाय उसे धुंधलाती है। ऐसी आलोचना को अगर आज का लेखक/आलोचक चुनौती देता है तो क्या ताज्जुब! ऐसी आलोचना के विरुद्ध अगर वह स्वयं को पाता है तो इसमें क्या बुरा है? प्रश्न यह है कि कोई लेखक/आलोचक-आलोचना के विरुद्ध कब और क्यों होता है? आलोचना के विरुद्ध होने का मेरा आशय है आलोचना की दकियानूसी और संकीर्णता के विरुद्ध, आलोचना की रूढ़ियों और सिद्धांतों के विरुद्ध, आलोचना के निपट शुद्ध 'साहित्यिक' स्वरूप के विरुद्ध।

चालू आलोचना के विरुद्ध होकर ही आलोचना को बचाया और प्रासंगिक बनाये रखा जा सकता है। अलोचना के वर्तमान संकट का सामना करने की जिम्मेदारी अब इसलिए भी महसूस की जा रही है कि आलोचनात्मक विवेक और सक्रियता कम होती जा रही है। बाड़ों और खेमों की वजह से वैचारिक आदान-प्रदान की भी कोई सूरत नहीं दिख रही है। कृति के नाम पर कृतिवादी आलोचना की भरमार है और सृजनात्मक आलोचना के नाम पर प्रभाववादी आलोचना की। विचारधारा के नाम पर पार्टीवादी आलोचना चल रही है। आलोचना की रणनीतियों के घटाटोप में क्या आलोचनात्मक साहित्य अन्तिम सांसें तो नहीं गिन रहा?

यह एक परिचित तथ्य है कि आभिजात्य साहित्य-धारा के साथ-साथ रस-सिद्धांतवादी आभिजात्य आलोचना-धारा भी चलती रही है। इस आभिजात्य आलोचना-धारा के गढ़ को तोड़ना जरूरी है। इसे तोड़ा जा सकता है साहित्य को संस्कृति, दर्शन, कला-कौशल के बीचों-बीच रखकर। तभी साहित्य-वृत्त फैलेगा और आलोचना अधिक सार्थक होगी। यह मानना होगा कि कृति पर केंद्रित होते हुए भी आलोचना एक ओर समाज और राजनीति से जुड़ी हुई है, दूसरी ओर इतिहास और संस्कृति से।

आलोचना कृति पर कितनी निर्भर हो, है वह ज्ञान की शाखा ही। आलोचक को कृति में झांकना ही नहीं चाहिए, उसे झलकाना भी चाहिए। यह काम वह तभी कर पायेगा जब वह उसे शुद्ध कृति के तौर पर नहीं, अन्य ज्ञान-संदर्भों और प्रसंगों के बीच में से उभरता हुआ दिखाये और विश्लेषित करे। आलोचक के लिए यह कोरे एहसास की नहीं, एहसास से ज्ञान की ओर यात्रा है। इसलिए आलोचना एक ओर सभ्यता, संस्कृति और समाज से जुड़ती है, दूसरी ओर दर्शन और राजनीति से।

हिन्दी का लगभग हर आलोचक स्वयं को साहित्य का मर्मज्ञ मानता है और सभ्यता, संस्कृति और दर्शन पर नाक-भौंह सिकोड़ता है। साहित्य और संस्कृति से जुड़ी प्रतिभाओं 'जीनियस ऑफ लिटरेचर' और 'जीनियस ऑफ सिविलाइजेशन' के बीच डॉ० रमेश कुंतल मेघ जैसे आलोचक जिस 'औरगेनिक' सम्बन्ध की खोज में तल्लीन दिखते हैं, वह अच्छा लगता है पर हिन्दी आलोचना में वह कहां सध पाया है। हिन्दी आलोचना में ऐसा तालमेल कहां मिलेगा?

आलोचना के लिए विचारों के इतिहास की गहरी जानकारी जरूरी है, दुर्भाग्य से, जिसका हिन्दी आलोचना में अभाव रहा है। इस ढंग की जानकारी के बिना बौद्धिक तैयारी और तत्परता कैसे आ सकती है?

संप्रेषण का अभाव एक और वजह है जिसने हिन्दी आलोचना को पाठक के लिए उपयोगी नहीं रहने दिया है। इसके लिए बड़ी हद तक जिम्मेदार है आलोचना की भाषा, जिसने इसे आम समझदारी (कॉमन सेंस) का हिस्सा नहीं बनने दिया है। विश्वविद्यालयों में आलोचना के व्यवसायीकरण ने तो गजब ही ढाया है। पता नहीं इससे हिन्दी आलोचना कब उतरेगी?

समकालीन बोध और साहित्य की पहचान पाना किसी भी आलोचक के लिए ज़रूरी है। समकालीन संदर्भों में लिखे जा रहे साहित्य की वह अनदेखी नहीं कर सकता। यह उसकी शक्ति है पर अगर वह समकालीन को ही सब कुछ मान लेगा तो उसकी आलोचना सीमित ही नहीं, एकांगी भी हो जायेगी। समकालीनता के नाम पर आलोचना का अपनी परम्परा और इतिहास से अलग-थलग होते जाना इसीलिए इधर आलोचना के लिए एक संकट बनता जा रहा है जिससे आलोचना आरजी-सी चीज़ बनती जा रही है। आलोचक के लिए समकालीन बोध से सम्पन्न होना ज़रूरी है तो उसके लिए यह भी जरूरी है कि वह समकालीनता को एक जीवंत परम्परा के रूप में और एक बड़े परिप्रेक्ष्य में देखे और समझे। अपनी साहित्यिक परम्परा और साहित्यिक इतिहास में अवगाहन के बिना आलोचना चमत्कृत कर सकती है, पर वह रहेगी एकांगी ही। आस्वाद और मूल्यांकन के विविध धरातलों को आत्मसात कर सकने वाली आलोचना दृष्टि परम्परा और इतिहास के ज्ञान के बिना संभव नहीं है। समकालीन संदर्भों और कृतियों को परम्परा के जीवंत तत्त्वों और अंशों की संगति में बेहतर समझा जा सकता है और इससे आलोचना के नये मुद्दे उभरकर सामने आ सकते हैं। पैरवी करना, वह चाहे समकालीन प्रवृत्तियों और कृतियों की हो, आलोचक का काम नहीं है। उसका काम

है उन प्रवृत्तियों को पहचानना और पड़तालना और यह तभी संभव है जब वह एक बड़े फलक पर अपनी आलोचना वृत्ति को सक्रिय होता हुआ दिखाए।

अब लीजिए आलोचना में घुसे हुए शास्त्रार्थ (पालिमिक्स) की बात। एक तरह का शास्त्रार्थ (पालिमिक्स) है ईमानदारी और समझदारी की आड़ में फलता-फूलता हुआ। हिन्दी में ऐसे आलोचकों की कमी नहीं जो ईमानदारी की दुहाई देते हुए परले दर्जे की समझदारी का सबूत पेश करते हैं, अपने भाई-बंधुओं को कलम की नोंक से शीर्षस्थ आसन पर बैठा देते हैं और आप हैरत से सोचते हैं, यह है हिन्दी आलोचना ! दूसरे हैं अन्वेषणवादी कवि शिरोमणि अज्ञेय जी जिनका ईमानदारी में कोई जवाब नहीं। सबसे पहले ईमानदारी और चतुराई, चतुराई और प्रतिबद्धता अपने प्रति। ऐसे में वात्स्यायन जी श्री अज्ञेय की काव्य-कला का आकलन और रसास्वादन करते हुए दिखें तो क्या ताज्जुब ! इस ढंग के शास्त्रार्थ में संवाद का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरा वितण्डावाद (पालिमिक्स) है बाड़ों और खेमों का जो कहने को वादों और विचार-धाराओं से जुड़ा है पर जो पार्टियों की नीतियों द्वारा निर्धारित होता है। इन आलोचकों की अपनी-अपनी भेड़ें हैं और अपने-अपने चरागाह। दूसरों की भेड़ों पर गोला दागने में यह फरक महसूस करते हैं। ऐसे उदाहरणों से इधर की लघु पत्रिकाएं पटी पड़ी हैं। हाल ही में प्रकाशित दो पत्रिकाओं के उदाहरण आपके सामने रखना चाहता हूं। हम जानते हैं कि 'उत्तरगाथा' एक खास विचारधारा के प्रति समर्पित भाव से निकलती रही है। पर इधर उसके साहित्यिक और सांस्कृतिक आधार को व्यापक बनाने की भी कोशिश की गयी है। इस कोशिश के तहत ही उत्तरगाथा के अंक-12 में रमेश गौड़ की कई कविताएं एक साथ दी गयी हैं और इसी में है उनके कविता-संग्रह 'पतनगाथा' पर कर्णसिंह चौहान का लेख जो इस लम्बी कविता की गहरी और तलस्पर्शी पहचान कराने में समर्थ है। पर दूसरा दल इसे भला कैसे पचा सकता है ? आशय-3 में श्रीराम उपाध्याय ने इसे 'व्यापक घालमेल' कहकर पुकारा है ? इसी तरह 'पहल पत्रिका में अच्छी रचनाएं भी छपती हैं पर 'उत्तरगाथा' वाले क्या उन रचनाओं को समझने का सबूत देते हैं। इसी तरह 'दस्तावेज़' और 'संचेतना' 'साक्षात्कार' और 'दीर्घा' अक्षरा, जमीन और अभिप्राय आदि पत्रिकाओं ने आलोचना के क्षेत्र में जो काम किया है उससे क्या समुचित रूप में पूर्वाग्रह मुक्त होकर समझने की कोशिश की गयी ? खास विचारधारा वाली पत्रिकाओं में जो अच्छी समीक्षाएं छपती हैं, उनका भी क्या हश्र होता है, इसे आप इस वितण्डा-वाद (पालिमिक्स) के ज़रिये समझ सकते हैं और हिन्दी आलोचना पर सिर धुन सकते हैं।

□

□

एक टिप्पणी यह भी

रचनाकार बनाम आलोचक

□ डॉ० यश गुलाटी

आलोचना के प्रति शिकायत नयी नहीं है। प्रत्येक युग के रचनाकार ने आलोचक की उदासीनता, नासमझी, पक्षपातपूर्ण रवैये को लेकर विक्षोभ और आक्रोश की भावनाएं व्यक्त की हैं। कालिदास, भवभूति, गेटे, शेक्सपियर, मिल्टन, बायरन, चेखव, निराला, प्रेमचन्द, मुक्तिबोध—सभी अपनी समकालीन आलोचना से असंतुष्ट प्रतीत होते हैं। गेटे ने अगर उसे श्वान की भांति आलोचक को मार डालने को कहा, चेखव ने आलोचना को घोड़े के शरीर पर बैठने वाली ऐसी मक्खियां बताया जो खेतों में हल चलाते समय उनकी गति अवरुद्ध कर देती हैं तो आर्थर साइमन्स को समीक्षक ऐसा उद्यमशील कौवा प्रतीत हुआ जो सौंदर्य बमन करने वाले के पीछे-पीछे फुदकता है और प्रतिभावान द्वारा बिखेरे हुए प्रसंग-कणों को पाकर संतुष्ट हो जाता है। जाहिर है कि इन कटूक्तियों के मूल में कई बार तो अपनी हर चीज की सराहना की अपेक्षा रही है और कई बार ये असत् आलोचना (Bad criticism) को लेकर पैदा होने वाली प्रतिक्रियाएं हैं। आज के युग में आलोचना के अस्वीकार का रवैया अधिक उजागर हो गया है। जिस तरह उत्पादक और भोक्ता के बीच विक्रेता (middle man) की ज़रूरत को नकारा जा रहा है उसी तरह रचनाकार और पाठक के बीच किसी तीसरे को अनावश्यक समझा जा रहा है।

इसके बावजूद, आलोचना कम नहीं हो रही, लगातार बढ़ रही है तो इसकी अहमियत पर पुनर्विचार करना जरूरी हो जाता है। वास्तव में आज के युग में इसकी आवश्यकता और भी ज्यादा हो गई है क्योंकि अब तो रचनाओं की बाढ़ आ गई है। ऐसा लगता है कि लोगों ने कविताई करना खेल समझ लिया है। ज्यादातर कथित रचनाएं ख़बरें हैं जो पढ़ी-पढ़ाई, सुनी-सुनाई घटनाओं को शब्दबद्ध कर रही हैं। आज रचना (creation) नहीं हो रही, उत्पादन (production) हो रहा है। नतीजे के तौर पर ढेर सारी रचनाओं को लेकर जो आलोचनाएं लिखी जा रही हैं, वे तात्कालिक प्रतिक्रियाएं हैं, गहरे विचार और विश्लेषण के बाद जन्म लेने वाली सही आलोचनाएं नहीं हैं। इस हालत में न तो वे रचना के बारे में कोई समझ देती हैं, न पाठक की सोच को झिझोड़ती हैं, न उसे भूसे में से दाने अलग कर देने की क्षमता ही प्रदान

करती हैं। इस तरह की तात्कालिक (Instant) आलोचना को क्या आलोचना कहा जा सकता है? दूसरी बड़ी मुश्किल यह आ पड़ी है कि हरेक लेखक स्थापित होने की जल्दी में आलोचना को मैनेज करने की कोशिश में लगा हुआ है। इसके नतीजे के तौर पर आलोचना की नहीं जा रही, करवाई जा रही है। यही नहीं, अगर लेखक कोई आलोचक नहीं ढूंढ़ पाता तो वह स्वयं ही यह भूमिका निभाने का प्रयत्न करता है। जो परम्परा वर्ड्सवर्थ द्वारा लिरिकल बैलेडज़ की भूमिका से शुरू हुई उसे छायावादी कवियों ने आगे बढ़ाया। आज तो हर रचनाकार आलोचक भी बना हुआ है। वह न सिर्फ अपनी रचना की वकालत कर रहा है, अपनी रचना-विशेषताओं को दूसरी कृतियों पर लागू करने की कोशिश में भी जुटा हुआ है। साफ़ है कि इन प्रयत्नों से साहित्य की पाठकीय समझ और ज्यादा गड़बड़ा रही है।

असल में हर अननुकूल आलोचना के लिए आलोचक की नीयत पर शक करना वाजिब नहीं है। कई बार आलोचक अपनी तमाम ईमानदारी के बावजूद अपने युग से पीछे रह जाता है। जिन क्लासिक्स को वह पढ़ता है, वे उसकी रुचि पर इस क़द्र हावी हो जाते हैं कि वह उन्हीं मूल्यों और मानदंडों को अपने युग की कृतियों पर लागू करने का प्रयत्न करने लगता है। उत्पादन के क्षेत्र में उत्पादन (production) और उत्पादन सम्बन्धों (Productive relations) में जो द्वन्द्व की स्थिति मिलती है, वह रचना और आलोचकीय मानों में भी नजर आती है। रचनाकार होने के लिए युगीन रचना रूढ़ियों और मानों का अतिक्रमण आवश्यक होता है जब कि आलोचक कई बार उसका साथ नहीं दे पाता।

इस तरह की मुश्किलों के बावजूद, **यह तो नहीं कहा जा सकता कि आज आलोचना की ज़रूरत ही नहीं** रह गई है। यदि रचनाकार से आलोचक यह अपेक्षा करता है कि वह युग-सत्य के प्रति ईमानदार रहे और अपनी रचना में अनुभूति, संवेदना और वैचारिकता का नया समीकरण स्थापित करे तो आलोचक से रचनाकार की वह अपेक्षा भी जायज़ है कि वह सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त हो, सहानुभूति से रचना की पहचान करे तथा अपने अनुभव, बुद्धि, सूझ-बूझ से काम लेते हुए युगीन मिज़ाज के संदर्भ में ही रचना की परख और पहचान करे। अब यह नहीं माना जा सकता कि रचना का उपजीव्य जीवन है और आलोचना का उपजीव्य महज़ रचना। आलोचक भी अपने अनुभव संसार से सीखता और ग्रहण करता है जिसके बल पर उसकी आलोचकीय प्रतिभा निर्मित और विकसित होती है। उसका काम महज़ रचना की व्याख्या, मूल्यांकन ही नहीं, रचना-कर्म का विकास और उसके प्रति मौजूद उदासीन जड़ता को भी तोड़ना है। वास्तव में युग की रचना-मानसिकता का रूप निर्धारण का दायित्व अकेले रचनाकार का ही नहीं है, पाठक और उससे भी ज्यादा आलोचक का भी है।

अगर आज आलोचना सही तौर पर अपनी भूमिका का निर्वाह नहीं कर पा रही है तो उसके लिए अकेला आलोचक ही जिम्मेदार नहीं है। आलोचक से यह उम्मीद की तो जाती है कि वह अपने युग का मार्ग-निर्देश करे, नयी राहों के अन्वेषण करे लेकिन यह बात एक दूरी तक ही की सही है। महान आलोचना की अपेक्षा करने से पहले रचनाकारों को महान नहीं तो कम-से-कम उल्लेखनीय रचना तो सामने लानी ही चाहिए। रचना के नाद पर कूड़े-करकट का ढेर लगा देने के बाद उच्चकोटि की आलोचना की परिकल्पना ही बेमानी प्रतीत होती है। असल में आलोचक की नीयत और ईमानदारी पर शक के पीछे रचनाकर्म में संलग्न व्यक्तियों का यह आग्रह भी है कि आलोचक उनमें चौखटे (Frame work) में, उनके द्वारा प्रस्तुत मानदंडों की कसौटी पर ही रचना की पहचान करे। आज जब लेखक को यह आजादी है कि वह मुख्तलिफ़ प्रचलित दृष्टियों में से किसी एक को अख्तियार करे या निराली दृष्टि से ज़िन्दगी की सच्चाइयों की शिनाख्त करे तो आलोचक को निजी दृष्टि से रचना को परखने की इजाजत क्यों नहीं दी जा सकती? रुचि-विभिन्नता को स्वीकार करके लेखक आलोचक को उस सहानुभूति से वंचित कर देना क्यों चाहता है जिसकी मांग वह आलोचक से निरन्तर करता रहा है। अगर उसने यह नहीं किया तो आज जिस तरह आलोचना के विरुद्ध रचनाकारों की जमावट हो रही है, एक दिन रचना के ख़िलाफ़ शायद आलोचक भी एकजुट होने का फ़ैसला कर लें।

आम आदमी की चिन्ता से जुड़ी कविता की चिन्ता

☐ रामदरश मिश्र

सुनो मार्कण्डेय[1]—ओम प्रकाश गुप्त के इस काव्य-संग्रह से गुज़रते हुए मुझे बहुत सुखद अनुभव हुआ। ओम प्रकाश गुप्त मेरे लिए सुपरिचित कवि नहीं थे। इन कविताओं को पढ़ने पर आश्चर्य हुआ कि यह कवि अब तक मुझसे या हिन्दी जगत से अपरिचित क्यों रहा ? इस संग्रह की कविताएं भी आज की बहुत-सी कविताओं की तरह आम आदमी की ज़िन्दगी से जुड़ी हैं। इनकी मूल चिन्ता आदमी को आदमी के रूप में देखने की है किन्तु इनमें बड़बोलापन नहीं है। इनमें शब्दों का कोलाहल नहीं है, किसी राजनीतिक दर्शन का फारमूला नहीं है — इनमें आदमी की चिन्ता कविता की चिन्ता के साथ जुड़ी है। अर्थात ओम प्रकाश कवि हैं—वे आम आदमी की चिन्ता को काव्यात्मक संवेदना में उतारकर व्यक्त करते हैं। इसलिए आम आदमी की पीड़ा और मूल्य-चेतना सीधे-सीधे उगली नहीं गयी है बल्कि काव्यात्मकता की रक्षा करते हुए ध्वनित की गई है। यदि कविता के माध्यम से कोई बात की जाए तो हमारी चिन्ता यह होनी चाहिए कि कविता कविता लगे।

ओम प्रकाश की कविता कविता लगती है—सर्वत्र लगती है। इन्होंने अपनी बात करने के लिए बिम्बों का सहारा लिया है—कहीं प्रकृति के बिम्ब हैं, कहीं पौराणिक बिम्ब हैं, कहीं सामाजिक बिम्ब हैं, कहीं लोक-कथाओं के बिम्ब हैं। कवि की आम आदमी की दुनिया इकहरी नहीं है। उसमें यातनाबोध भी है, निषेध का स्वर भी है, सौंदर्य बोध भी है। अतीत भी है, वर्तमान भी है। भविष्य की आहट भी है, प्रश्न भी हैं, उत्तर भी हैं। यथार्थ का ठोस खुरदरा धरातल भी है और फंतासी की खुली अमूर्तता भी। **काले साये** की शुरुआत एक प्रश्न से होती है—'ये साये किन लोगों के हैं ?' यह सवाल करके वह उन बहुत से लोगों की ओर हमें उन्मुख कर देता है जो दूसरों की दीवार पर अपने काले प्रभाव छोड़ते रहते हैं। कवि फिर इस साये को तान देता है—आदमी की ज़िन्दगी के चित्र से—

१. सुनो मार्कण्डेय/ओम प्रकाश गुप्त/न्यूएज बुक सेंटर, अमृतसर/पृ० ६०/मूल्य बीस रुपये

अपने नाखूनों से कुरेदकर पथरीली मिट्टी
बनाई थी जो क्यारियां
पलकों के स्पर्श से मंत्रपूत करके
जो सूरजमुखी हवाओं के हवाले किये थे
ये साये उन क्यारियों पर उतर आते हैं

इस चित्र के बाद कवि एक तिलस्मी माहौल पैदा करता है क्योंकि शोषकों की दुनिया तिलस्म ही तो है और फिर वह कई प्रभावशाली बिम्ब उपस्थित करता है—स्थितियों के या और क्रियाओं के या—

इस अंधी गुफा की दीवारों को
हथेलियों को पीठ से टकोरता हूं
कान लगा कर
बहुत दूर गरजते तूफान की आवाज़
मैंने सुनी है
और पहचाना है
कि दूर के जंगल में कहीं बेशुमार पलाश उग चुके हैं।

इन सायों को तोड़ने के स्वप्न और प्रयास चलते रहते हैं लेकिन 'दिन उगते ही/ओस में नहा कर/ये साये अपना रूप बदल लेते हैं/हर रोज/हर बार/ये साये किन लोगों के हैं/किन लोगों के हैं ये साये ?' यानी साये मायावी हैं, वे छल करने के लिए अपना रूप बदलते रहते हैं। मैंने ओम प्रकाश की काव्य-प्रवृत्ति की पहचान के लिए इस कविता को उदाहरण के तौर पर लिया है। उनकी अन्य अच्छी कविताओं, ''नन्ही-सी लाल हथेली', 'रोशनी के चकत्ते पर अजदाह क्यों है',' पीपल तले जलती लौ', 'बेताल की आखिरी कथा', 'सावन की एक रात', 'सुनो मार्कण्डेय' आदि में भी उनकी ये विशेषताएं और काव्यात्मकता की छवि देखी जा सकती हैं।

ओम प्रकाश की कविताओं की शक्ति एक खतरा भी छिपाए हुए है। वह खतरा रूपवाद का है। मैंने कहा है कि ओम प्रकाश की चिन्ता आम आदमी की चिन्ता है। लेकिन इन कविताओं में आम आदमी प्रत्यक्ष नहीं होता, उसकी भूख-प्यास, टूटन, जिजीविषा आदि के प्रत्यक्ष और मांसल बिम्ब नहीं उभरते। यह दुनिया प्रतीकों के माध्यम से छनकर आती है। इस-लिए यह तो लगता है कि कवि की मूल चिन्ता आम आदमी की है किन्तु आम आदमी की दुनिया की हमें जो आहट मिलती है वह सामने नहीं होती। कविता के माध्यम से यदि बात कही जाती है तो कविता को कविता होना ही चाहिए किन्तु कविता की दुनिया भी तो वस्तु के अनुसार बदलती रहती है। आदमी कविता में जो सहायता और खुलापत आ रहा है वह ओम प्रकाश की कविता का स्वभाव नहीं बन सका है। यह खुलापन तभी आयेगा जब कवि आम आदमी की दुनिया को उसकी पूरी हलचल के साथ पकड़ेगा और उसके मुहावरे में पकड़ेगा··· केवल उसकी कुछ आहटों को प्रतीकों के जरिए संकेतित करने में नहीं लगा रहेगा। ओम प्रकाश में यह क्षमता है कि वे वस्तु और रूप का संतुलन बनाये रखें। आवश्यकता इस बात की है कि वे खुरदरे वस्तु जगत में सीधे प्रवेश करें और उसके अनुरूप एक खुरदरा और खुला रूप गढ़ें।
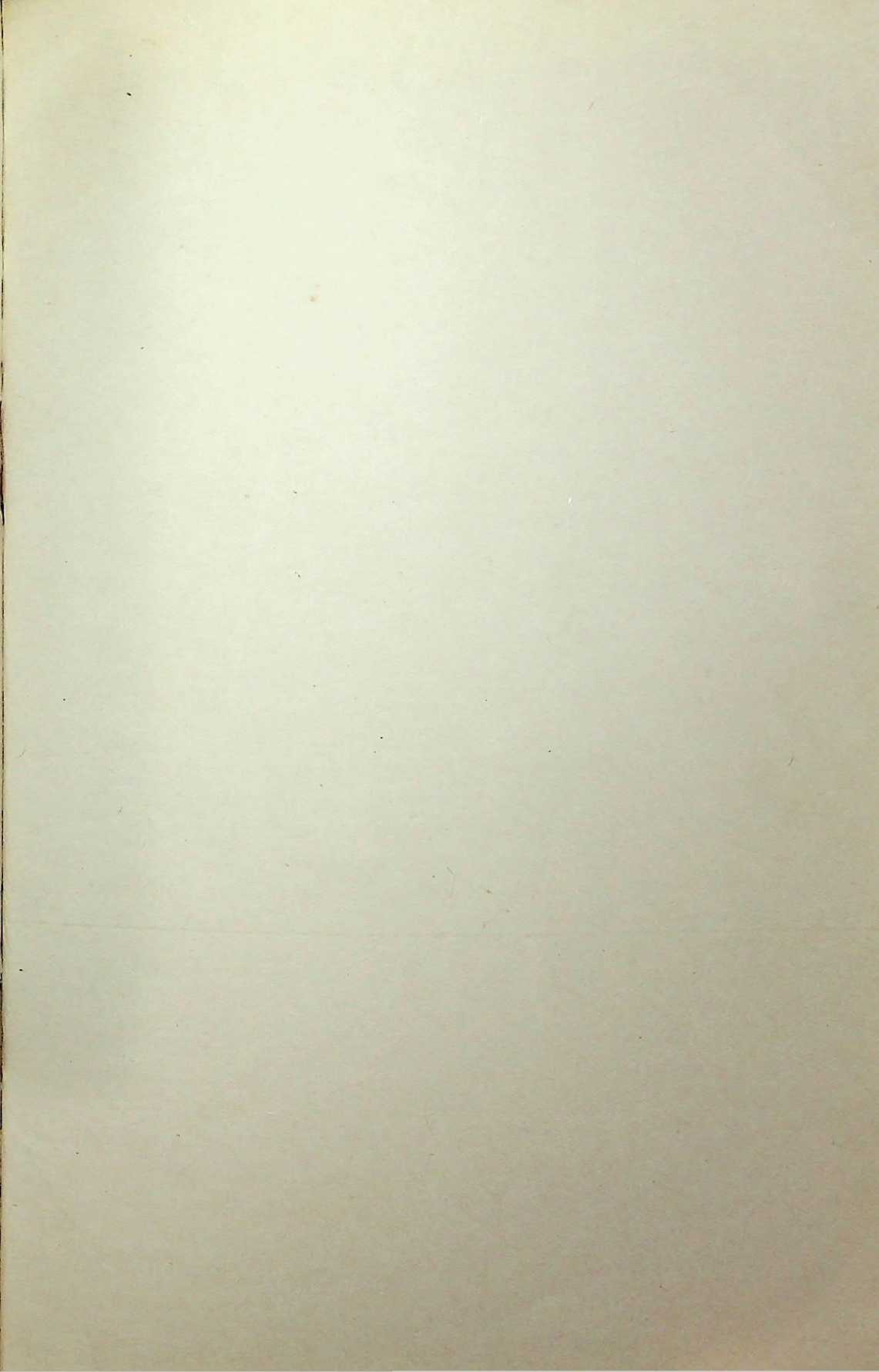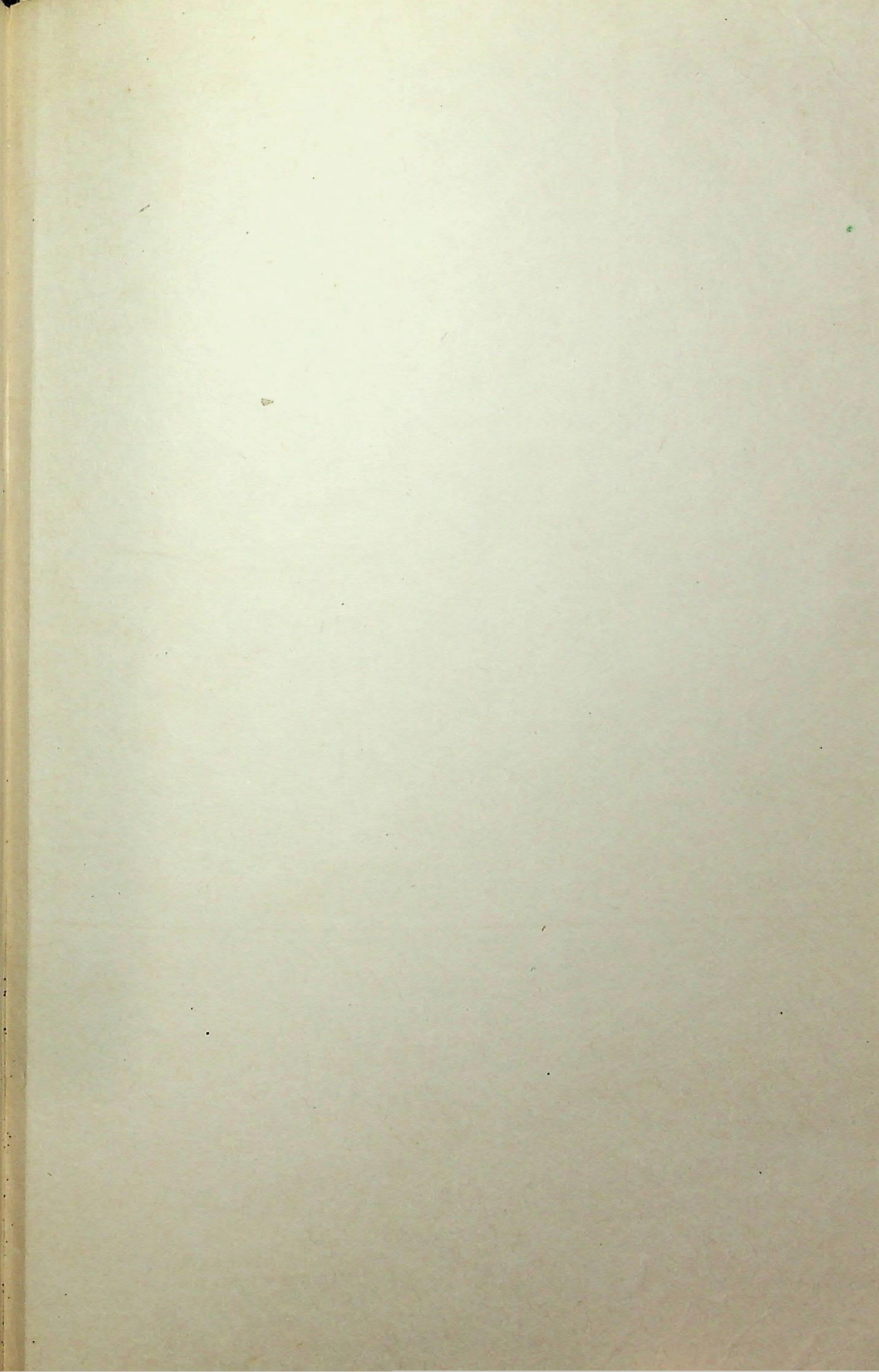
द्विमासिक शीराज़ा हिन्दी

70

वर्ष २० / अंक १

(अप्रैल-मई १९८४)

•

प्रमुख सम्पादक

मुहम्मद यूसुफ़ टेंग

•

सम्पादक

रमेश मेहता

•

पत्र-व्यवहार

सम्पादक

शीराज़ा हिन्दी

जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, नहर मार्ग, जम्मू।

फोन : ५०४०

•

मुद्रक :
रूपाभ प्रिंटर्स,
शाहदरा, दिल्ली-३२

•

यह अंक : दो रुपये

वार्षिक शुल्क : दस रुपये

अनुक्रम

लेख

कविता

व्यंग्य

कहानी

स्थायी स्तम्भ